॥ श्रीः ॥

रामायण में राजनीति

श्रीशालग्रामशास्त्री

रामायण में राजनीति

विद्यावाचस्पति, श्रीशालग्रामशास्त्री, साहित्याचार्य,
विद्याभूषण, वैद्यभूषण कविराज विरचित।

प्रकाशक
श्रीमृत्युञ्जय-औषधालय
ऐबट रोड, लखनऊ

सं० १९८८ विक्रमीय

प्रथमावृत्ति

भेंट ।)

तद्राजनीतिव्याजेन
रामचर्चेयमर्चिता ।
सन्तोषाय सतां भूयाद्
विवेकाय च धीमताम् । १

विषय-सूची

दो शब्द

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का पारायण करते-करते एक बार इच्छा हुई कि इस पर राजनीतिक दृष्टि से कुछ लिखें। सोचा था कि किसी मासिक पत्रिका में दो-एक लेख का मसाला हो जायगा, परन्तु किसी महत्त्व-पूर्ण विषय पर लिखना आरम्भ करने के बाद 'बात का बतंगड़' बन जाना, हमारे लिये साधारण बात है। यहाँ भी उसी का दौरा हुआ। लिखते-लिखते 'गीता फैल गई'। सैकड़ों पृष्ठ हो गए। दो लेख 'माधुरी' में निकले। एक ('रामायण में भरत') 'कल्याण' में भी निकला, परन्तु इतने से काम न चला। चिड़ियों के लिये यह सम्भव नहीं था कि चम्पक-वृक्ष को चोंच में दबा के ले उड़ें। अन्त में इसे पुस्तकाकार छपाने की धुन सवार हुई। साथ ही यह भी ख़याल था कि पुस्तक का मूल्य कम-से-कम रहे।

हमने और हमारे मित्र श्रीयुत दुलारेलालजी भार्गव ने उद्योग तो किया, परन्तु फिर भी इस पुस्तक में कई कारणों से अनेक त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ रह गईं। किसी-किसी पृष्ठ पर तो अक्षरों की मात्राएँ इस तरह झड़ पड़ी हैं, जैसे लू-लपट से झुलसे हुए शहतूत। कहीं-कहीं पास-पास के अक्षरों में नीचे-ऊपर की खण्डित मात्राएँ देखकर ऐसा मालूम होता है कि मानो किसी ने कान और दुम कटे हुए कुत्ते के पिल्ले

(छोटे बच्चे) इकट्ठे बिठा दिए हों। अनुभवी लोगों का कहना है कि प्रथम संस्करण में त्रुटियों का रहना अनिवार्य है। बाइबिल में लिखा है कि अल्ला मियाँ ने पहले-पहल जो सृष्टि बनाई थी, वह बेडौल थी। दूसरे संस्करण में उन्होंने उसे झाड़-पोंछकर ठीक किया। उन्होंने झाड़ू लगाकर जो कूड़े-करकट के ढेर इधर-उधर इकट्ठे कर दिए थे, उन्हीं को तो आजकल के लोग पहाड़ कहते हैं।

कुशल इतनी ही है कि राम-कथा घर-घर प्रसिद्ध है और प्रकृत पुस्तक हिन्दी में है। अशुद्धियाँ उसी तरह आसानी से पकड़ी जा सकेंगी, जैसे दिन में सफ़ेद चादर पर बैठे हुए खटमल। जो लोग शरबत में बरफ़ डालकर पीने के आदी हैं, उन्हें तो शायद कोई दिक़्क़त न हो। जिस तरह गले में बरफ़ की डली अटक जाने के डर से वे लोग धीरे-धीरे चुसकी भरकर शरबत पिया करते हैं, सड़ाके के साथ नहीं, उसी तरह यदि इसे पढ़ेंगे, तो अशुद्धियों के अटकने का कोई भय न रहेगा। हम अगले संस्करण में इस पाप का प्रायश्चित्त करेंगे। तब तक पाठकगण एक भयानक भूल स्वयं सुधार लें। पृष्ठ २५६ की अंतिम पंक्ति और पृष्ठ २५७ की चौदहवीं पंक्ति में 'तीसरी श्रुति' के स्थान में 'पाँचवीं श्रुति' छपा है और इसी से अगली पंक्ति में 'दो ही' की जगह 'तीन ही' छप गया है।

शालग्राम

❀ रामायण में राजनीति ❀

(राम-वनवास)

रामायण विश्वविश्रुत ग्रन्थ है। केवल भारत ही नहीं, विदेशों में भी इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। भारत के सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोग इससे परिचित हैं। हिन्दुओं का तो यह धर्म-ग्रन्थ ही है। हिन्दू लोग श्रीरामचन्द्रजी को भगवान् विष्णु का अवतार मानते हैं, और धर्म की मर्यादाओं का नियत एवं संयत करना उनके अवतार का प्रयोजन बताते हैं। इसी से भगवान् रामचन्द्र को मर्यादापुरुषोत्तम भी कहा जाता है। रामायण में इन्हीं के चरित्र का प्रधानतः चित्रण है, अतः उसका हिन्दुओं की दृष्टि में पवित्र ग्रन्थ और धर्मग्रन्थ होना स्वभाव-सिद्ध है। यदि हिन्दुओं की धार्मिक भावना को एक ओर हटाकर देखा जाय, तो भी रामायण वस्तुतः अद्वितीय ग्रन्थ है। संसार की किसी भाषा में इसके जोड़ का दूसरा ग्रन्थ मिलना सम्भव नहीं। पुत्र का माता-पिता के साथ, माता-पिता का पुत्र के साथ, पति का पत्नी के और पत्नी का पति के साथ एवं भाई का भाई के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, धर्म की मर्यादाओं का पालन कैसे करना चाहिए, बड़े-से-बड़े अधर्म का मुक़ाबला, असहाय अवस्था में भी, किस प्रकार करना चाहिए, अन्यायी को कठिन-से-कठिन दण्ड देने पर भी उसके अन्य निरपराध सम्बन्धियों को

ऊँचे-से-ऊँचा पद बिना सङ्कोच के कैसे देना चाहिए इत्यादि अनेक धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक मर्यादाओं का अक्षुण्ण चित्र जैसा रामायण में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से रामायण का स्थान संसार की समस्त पुस्तकों से ऊँचा है।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि आदि-कवि कहे जाते हैं। वैदिक साहित्य के आदि-आचार्य श्रीब्रह्माजी ने महर्षि वाल्मीकि को लौकिक साहित्य की सृष्टि करने के लिये स्वयं तथा सरस्वती के द्वारा प्रोत्साहित किया। उसी का फल वाल्मीकीय रामायण है। यद्यपि और भी बहुत-सी रामायणें प्रसिद्ध हैं, तो भी उन सबकी रचना इसी—वाल्मीकीय रामायण—के आधार पर हुई है। इसी के कथानकों का कुछ थोड़ा अदल-बदलकर उन सबकी सृष्टि की गई है। हम आज उसी आदि-काव्य—वाल्मीकीय रामायण—के आधार पर राजनीति-सम्बन्धी कुछ बातें पाठकों को भेंट करेंगे।

यों तो रामायण में सभी कुछ है। धार्मिक दृष्टि से तो हिन्दुओं के लिये वह अनुपम ग्रन्थ है, परन्तु धार्मिक भावनाओं के अलावा भी उसमें बहुत कुछ है। जो लोग भगवान् रामचन्द्र को ईश्वर मानने के लिये तयार नहीं, उनके मनन करने योग्य भी उसमें बहुत कुछ सामग्री है। मर्यादापुरुषोत्तम की यही विशेषता है कि उन्होंने मनुष्य-मात्र के लिये उपयोगिनी सभी मर्यादाओं का दिग्दर्शन अपने जीवन की घटनाओं द्वारा करा

दिया; अपने अनुष्ठान के द्वारा उन सबकी उपयोगिता सिद्ध करके दिखा दी। यहाँ हम राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ घटनाओं का ही उल्लेख करना चाहते हैं।

भगवान् रामचन्द्र का अवतार रावण के वध के लिये हुआ था, यह बात सभी हिन्दू मानते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने भी यही लिखा है—

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः;
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः। ७। अयो०, १ सर्ग

सच पूछिए, तो श्रीरामचन्द्रजी के महत्त्व का प्रधान कारण रावण ही था। यदि रावण न होता, तो आज श्रीरामचन्द्रजी को इतना उच्च स्थान भी संसार में न मिलता। यदि उन्होंने समस्त लोकपालों का दमन करनेवाले त्रैलोक्य-विजयी दुर्दान्त रावण का विजय न किया होता, तो उनका नाम इतना पवित्र और व्यापक कैसे होता? और, यदि उन्हें वनवास न हुआ होता, तो रावण के वध का अवसर भी कैसे आता? इसीलिये रामायण के आधार पर बने अनेक निबन्धों के रचयिताओं ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार राम-वनवास पर तरह-तरह की कल्पनाएँ की हैं। और भी कई प्रसङ्गों पर कारण-वश अनेक उलट-फेर कर लिए हैं। महावीर-चरित के रचयिता महाकवि भवभूति ने बड़ी लम्बी उड़ान भरी है। उन्होंने कल्पना की है कि राम-वनवास का कारण रावण का नाना था, और उसी की आज्ञा से कैकेयी की प्रधान दासी मन्थरा पर शूर्पणखा (रावण की बहन) का

आवेश हुआ था। मन्थरा ने जो कुछ किया, वह उसका अपना क़ुसूर नहीं था, वल्कि एक राक्षसी के आवेश में फँसकर—भूताविष्ट होकर—उसने वह सब महाकाण्ड करा दिया।

आज राम-वनवास का सम्पूर्ण दोष कैकेयी के ही सिर मढ़ा जाता है, और कैकेयी को यह दुर्बुद्धि देने का समस्त अपयश कुबड़ी दासी मन्थरा की खोपड़ी पर लादा जाता है; परन्तु महाकवि भवभूतिको यह बात खटकी कि श्रीरामचन्द्रजी की माता—विमाता ही सही—पर ही उनके वनवास का कलङ्क क्यों लगाया जाय, और ख़ास उनके महल की एक दासी ही रामनाम की महिमा और रामभक्ति से क्यों वञ्चित हो जाय। इसीलिये उन्होंने इस सब घटना को राक्षसी माया सिद्ध करने के लिये बड़ी-बड़ी दूर के कुलावे मिलाए हैं। छिपकर बालि के मारने की बात को बचाने के लिये भी आपने एक गढ़न्त कर डाली है। अस्तु!

यदि आप राजनीतिक दृष्टि से रामायण का मनन करें, तो राम-वनवास का कारण न कैकेयी ठहरती है, न मन्थरा, बल्कि इस सब दोष या अपराध का मूल कारण राजा दशरथ—जी हाँ, श्रीरामचन्द्रजी के पिता, वही महाराज दशरथ—ठहरते हैं। पाठक यह सुनकर शायद चकित हों, परन्तु बात सच है। सुनिए—

श्रीरामचन्द्र आदि चारो भाई मिथिला से ब्याह करके लौटे। कुछ दिनों बाद भरत के मामा भी अयोध्या आए। सम्भव है, भरत को लेने ही आए हों। एक दिन अचानक राजा दशरथ भरत से कहते हैं कि देखो भाई भरत, यह तुम्हारे

मामा युधाजित् यहाँ बहुत दिनों से ठहरे हैं । तुम्हें बुलाने को आए हैं । इनके साथ अपनी ननिहाल ज़रा देख आओ न !

कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् । १५ ।

भरतं केकयीपुत्रमब्रवीद्रघुनन्दनः ।

अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक । १६ ।

त्वां नेतुमागतो वीर, युधाजिन्मातुलस्तव । बाल०, ७७ सर्ग

जब भरत अयोध्या से केकय (वर्तमान काबुल-प्रान्त) चले गए, तब राजा दशरथ के मन में चिन्ता हुई कि मेरे जीते-जी राम राजा कैसे हो सकेंगे ?

अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः ;

प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति । ३६ । अयो०, १ सर्ग

इस चिन्ता के बाद राजा दशरथ ने मन्त्रियों से सलाह की, और श्रीरामचन्द्रजी को युवराज बनाने का निश्चय किया ।

'निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत'

इस निश्चय के बाद सब राजाओं को बुलाया गया, और बहुत जल्द बुलाया गया ।

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि ;

समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः । ४६ । अ०, १

अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् । २४ ।

प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ।

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलनिवासिनः । २५ । अयो०, ३

अनेक नगरों से—दूर-दूर देशों से—प्रधान-प्रधान राजा

आए। पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम के सभी आए। म्लेच्छ भी आए और आर्य भी। जङ्गली तथा पहाड़ी राजा भी आए।

सब तो आए, परन्तु दो नहीं आए—एक तो महाराज जनक और दूसरे भरत के नाना केकयराज। इन्हें बुलाया ही नहीं गया, खबर तक इन्हें नहीं दी गई। बताया यह गया कि जल्दी बहुत है, इसलिये इन दोनो को बुलाया नहीं जा सकता। ये दोनो बाद में इस प्रिय उत्सव की बात सुन लेंगे। महर्षि वाल्मीकि के शब्द सुनिए—

> नतु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः ;
>
> त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्। ४८। अ०, १

सब लोगों के इकट्ठे होने तक किसी को कानोंकान खबर नहीं थी कि क्या होनेवाला है। श्रीरामचन्द्रजी के यौवराज्याभिषेक से सिर्फ एक दिन पहले सभा बैठी। उसमें राजा दशरथ ने आगन्तुक सज्जनों को समझाया कि मेरा विचार श्रीराम को युवराज बनाने का है। यदि आप लोगों को अनुमति हो, आप सब इसे उचित समझते हों, तो कल प्रातःकाल ही यह कार्य कर लिया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रस्ताव नितान्त उचित था। श्रीरामचन्द्र में उत्तम-से-उत्तम राजा के सब गुण विद्यमान थे। उन्होंने अपने गुणों और आचरणों से राजा और प्रजा, सभी के हृदय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। लोग राजा दशरथ की अपेक्षा भी उन्हें अधिक चाहने लगे थे, अतः उनके यौवराज्य का विरोध कौन करता? सबने एकस्वर से प्रस्ताव स्वीकार किया,

और मुक्तकण्ठ होकर राजा की तथा श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा की। हाँ, एक तरफ़ से विरोध होने की आशङ्का थी, परन्तु उस काँटे को तो राजा दशरथ ने पहले ही दूर कर रक्खा था।

पाठकगण, महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित पूर्वोक्त घटना-चक्र के एक-एक पद और एक-एक अक्षर को फिर से एक बार ध्यान-पूर्वक पढ़ जाइए, और फिर बताइए कि जब पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम के सब राजा बुलाए गए थे, आर्य, म्लेच्छ, जङ्गली, पहाड़ी, सभी इकट्ठे हुए थे, तो इस महोत्सव के अवसर पर कैकेयी के पिता को क्यों नहीं बुलाया गया? राजा दशरथ अपनी सबसे प्यारी रानी के पिता को बुलाना कैसे भूल गए? यदि राजा दशरथ की कही हुई जल्दी की बात सच थी, तो इसी जल्दी में ये और सब कैसे इकट्ठे हो गए? और तो और, अपने औरस पुत्र—सबसे प्यारी रानी के इकलौते पुत्र—भरत को वह कैसे भूल गए? इस महोत्सव में उनकी अनुपस्थिति उन्हें क्यों नहीं खटकी? आख़िर ऐसी जल्दी ही क्या थी? कुछ दिन बाद यौवराज्याभिषेक होने में हो क्या हर्ज था? फिर कैकेयी के पिता को ख़बर तक न भेजने का क्या रहस्य था? अभी कल तक तो भरत और कैकेयी के भाई युधाजित् अयोध्या में ही मौजूद थे। यदि ऐसी ही जल्दी थी, तो उन्हें यहीं क्यों न रोक लिया? उनके अयोध्या से पीठ फेरते ही राजा दशरथ के सिर पर यह जल्दबाज़ी की सनक क्यों सवार हुई?

सम्भव है, कोई कहे कि राजा दशरथ बहुत बूढ़े हो गए थे, इसलिये जीवन की नश्वरता का ध्यान करके ही उन्होंने यह जल्दी की; परन्तु प्रश्न यह है कि यदि सचमुच राजा दशरथ को अपनी मौत सामने खड़ी दीखने लगी थी, तो उन्होंने भरत को घर से जाने ही क्यों दिया? क्या मरते समय भी कोई अपने बच्चों को बाहर—फिर इतनी दूर, जहाँ से आते-आते हफ़्तों का समय लगे—भेजता है? क्या भरत के घर से निकलते ही दशरथ को मृत्यु के दर्शन होने लगे थे, या उनके मन में कोई चोर था, जिसके कारण यह जल्दबाज़ी हो रही थी? भरत और युधाजित् को हटाने के लिये उन्होंने कोई षड्यंत्र तो नहीं रचा था? कहीं उन्हें यह भय तो नहीं था कि भरत के मौजूद रहने और भरत के ननिहालवालों को ख़बर पहुँचने से श्रीरामचन्द्रजी के अभिषेक में बाधा पड़ सकती है, और इस प्रकार उनका मनोरथ ही व्यर्थ हो जायगा? बात तो कुछ ऐसी ही है। ज़रा आँखें बन्द करके विचार कीजिए।

राजा दशरथ के साढ़े तीन सौ रानियाँ थीं। तीन—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी—उनमें पटरानियाँ थीं। तीसरी महारानी के साथ उन्होंने अपनी ढलती हुई उम्र में शादी की थी। यह ठीक है कि उस समय तक उनके कोई सन्तान नहीं थी, लेकिन वाल्मीकीय रामायण में जो उनका चरित्र चित्रित किया गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि वह कामी पुरुष थे। राम-वनवास के समय दशरथ बूढ़े थे और कैकेयी जवान थी। कामी

पुरुष बूढ़ा होने पर तरुणी स्त्री को प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगता है। वाल्मीकि ने साफ़ लिखा है—

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्। २३।

कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम्। २७। अयो०, १० सर्ग

कैकेयी के साथ विवाह होते समय राजा दशरथ ने अपने श्वशुर से यह प्रतिज्ञा की थी कि कैकेयी के पुत्र को वह राज्य का अधिकारी बनाएँगे। यह भी उनके कामी होने का ही प्रमाण है। आज विवाह हुए बहुत दिन हो चुके हैं, और सन्तानों में राम ही सबसे अधिक योग्य हैं। अब राजा दशरथ की बुद्धि भी ठिकाने आ गई है। आज उन्हें धर्माऽधर्म का ठीक ज्ञान होने लगा है। इधर श्रीरामचन्द्रजी के गुणों ने भी उनके हृदय पर अखण्ड प्रभुत्व जमा रक्खा है। फिर भी उनका हृदय इतना प्रबल नहीं है कि वह कुपित कैकेयी की कुटिल भृकुटि की चोट सम्हाल सके। दशरथ इस समय बड़ी विकट परिस्थिति में पड़े हैं। यदि कैकेयी के विवाह-समय की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भरत को राज्य दिए देते हैं, तो संसार में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहते। यदि वह ऐसा करें, तो उनकी कामातुरता का ढिंढोरा पिट जाय। फिर आज उनका हृदय भी इस कार्य की ओर से उन्हें झिड़क रहा है। भरत को राज्य देने से समस्त प्रजा के भड़क उठने का भी डर है। श्रीरामचन्द्र के गुणों ने दशरथ के साथ सम्पूर्ण प्रजा के हृदयों को भी अधिकृत कर लिया है। भरत के सम्हाले शायद राज्य भी नहीं सम्हलेगा।

यदि प्रजा में विप्लव हो गया, तो कैसा होगा ? फिर राम और लक्ष्मण ने विश्वामित्र से जो दिव्य अस्त्र प्राप्त किए हैं, उनका शतांश भी भरत के पास नहीं है। राम शान्त हैं, वे चाहें मान भी जायँ ; परन्तु कहीं लक्ष्मण ने बिगड़कर विध्वंस करना शुरू किया, तो फिर कैसा होगा ? राज्य ही नष्ट हो जायगा। सबसे बड़ी बात तो यह कि आज दशरथ का हृदय भी राम को उनके धर्मसिद्ध और जन्मसिद्ध राज्याधिकार से वञ्चित करने को तयार नहीं। आज उनमें जवानी का वह 'जोशेजनूँ' भी मौजूद नहीं है। साँप निकल गया है, सिर्फ़ निशान बाक़ी है।

दूसरी ओर यदि राम को राज्य दिए देते हैं, तो कैकेयी के पिता बिना उपद्रव मचाए न मानेंगे। यदि कहीं कैकेयी नाराज़ होकर अपने नैहर में जा बैठी, तब तो ग़ज़ब ही हो जायगा। सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा। बुढ़ौती धूल में मिल जायगी। उसके स्मरण से ही दशरथ का दिल धड़कने लगता है। फिर क्या किया जाय ?

राजा दशरथ ने इसके लिये एक तरकीब सोच निकाली। भरत को और उनके मामा को साथ ही घर से बिदा किया, जिससे कैकेयी के नैहरवालों को यह सन्देह भी न होने पावे कि घर में कोई बड़ा उत्सव होनेवाला है। इधर अपनी सफ़ाई के लिये जनक को भी नहीं बुलाया। जब कभी मौक़ा पड़े, तो यह कहने को तो रहे कि सिर्फ़ आप ही नहीं छूटे थे, बल्कि सगे-सम्बन्धी—जानकी के पिता—महाराज जनक भी नहीं बुलाए

जा सके। इस क़दर जल्दी थी, मुहूर्त टला जाता था, बेहद मजबूरी थी इत्यादि।

इधर संसार से विरक्त बूढ़े वेदान्ती राजा जनक के नाराज़ होने की कुछ आशङ्का भी नहीं थी। इसके अलावा जब उन्हीं के जामाता—श्रीरामचन्द्र—को राजगद्दी दी गई, तब तो उन्हें अखरनेवाली कोई बात ही नहीं। राजनीति के अनुसार तो सिर्फ़ इसी बात के आधार पर उन्हें अपनी ओर मिलाया भी जा सकता था। समस्त प्रजा रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक चाहती ही थी। सिर्फ़ इसी ओर से विरोध की आशङ्का थी, उसे राजा दशरथ ने दूर कर दिया। अब आवश्यकता यह थी कि यह काम जल्दी-से-जल्दी कर लिया जाय। यदि देरी हुई और किसी तरह कैकेयी के पिता को सूचना मिल गई, तो फिर गड़बड़ की आशङ्का है।

अब रहा कैकेयी की बात, सो उसके अप्रसन्न होने की राजा को कोई आशङ्का नहीं थी। एक तो श्रीरामचन्द्रजी का व्यवहार सब माताओं के साथ—ख़ासकर विमाताओं के साथ—इतना अच्छा था कि सब उनसे प्रेम करती थीं। उनसे किसी को कुछ शिकायत न थी। किसी की राय उनके विरुद्ध न थी। स्वयं कैकेयी को जब मन्थरा से राम के राज्याभिषेक की बात मालूम हुई, तो वह बहुत प्रसन्न हुई। मन्थरा को अपना हार उतार कर दे दिया। मन्थरा के भड़काने पर भी आरम्भ में उसने यही कहा था कि राम के राज्य होने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।

राम में और भरत में भेद ही क्या है ? राम का व्यवहार मेरे प्रति भरत से भी अच्छा है, इत्यादि । इसके अतिरिक्त राजा दशरथ को भी वह अपना वशवर्ती समझती थी। इनका व्यवहार उसके प्रति इतना प्रेममय और आसक्तिमय था कि सन्देह की कोई गुञ्जाइश ही नहीं थी। साथ ही इन्हें अपनी राजनीतिक बुद्धि पर भी इतना भरोसा था कि जिससे कैकेयी के विरुद्ध होने को कोई आशङ्का नहीं थी।

कैकेयी उस देश (काबुल-प्रान्त) में पैदा हुई थी, जहाँ के निवासी आज भी सुन्दर, सरल, हठीले और कुछ-कुछ मूर्ख होते हैं। यदि वह अपनी ज़िद पर अड़ जायँ, तो फिर आगा-पीछा नहीं सोचते। अपना सर्वस्व नाश होने पर भी हठ नहीं छोड़ते। यही दशा कैकेयी की भी हुई। पहले उसके व्यवहार से अत्यन्त सरलता प्रतीत होती है, परन्तु मन्थरा के अच्छी तरह भड़का देने के बाद जो उसने ज़िद पकड़ी, तो राजा दशरथ के हज़ार सिर पटकने पर भी न सम्हली । साम, दाम, दण्ड, भेद सब व्यर्थ गए । समस्त प्रलोभन और सम्पूर्ण बिभीषिकाएँ बेकार साबित हुईं। कैकेयी अपने हठ से बाल-भर भी न हटी—न हटी।

राम-वनवास के कारण जो दुर्दशा कैकेयी की हुई—और आज तक जिसकी कलङ्क-कालिमा धोए न छुटी—वह ईश्वर किसी को न दिखाए। और-तो-और, उसके सगे पुत्र भरत ने ही अनेक बार उसे बे-तरह फटकारा । उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि मुझे यह भय न होता कि श्रीरामचन्द्रजी

मातृघातक समझकर मेरा परित्याग कर देंगे, तो मैं आज कैकेयी को जीवित न छोड़ता। कैकेयी अपनी सरलता, अदूरदर्शिता—या मूर्खता—के कारण यह बात पहले न सोच सकी। भरत की माता होने पर भी वह भरत के स्वभाव की भीतरी तह से परिचित न हो सकी। जिन भरत के राज्याभिषेक के लिये उसने संसार को अपना विरोधी बनाया और वैधव्य तक अपनाया, आखिर वह भी उसके न हुए। यदि वह पहले से ऐसा समझ सकती, तो कदापि यह कुत्सित हठ न करती। अब इसे चाहे देवताओं की माया समझिए या राजनीतिक दृष्टि से विचार करते हुए कैकेयी की जन्मभूमि का प्रभाव मानिए, बात एक ही है।

इधर कैकेयी के पिता भी इन बातों से बेखबर नहीं थे। वह दशरथ की कमजोरी पहचानते थे। वह जानते थे कि कामी होने के कारण ही उन्होंने कैकेयी के साथ विवाह करने के लिये यह कठिन प्रतिज्ञा (कैकेयी-पुत्र के राज्याधिकार की) की है। उनका इस प्रतिज्ञा से विचलित हो जाना कुछ भी कठिन नहीं है। वह यह भी समझते थे कि यदि बड़ी रानी का पुत्र ज्येष्ठ हुआ, तो धर्मतः राज्य का अधिकारी वही होगा। वह कैकेयी की अपरिपक्व बुद्धि और उसके अल्हड़पन से भी परिचित थे। उन्हें इसके भुलावे में पड़ जाने की पूरी आशङ्का थी, इसीलिये उन्होंने एक दूरदर्शिता और भी की थी। मन्थरा नाम की प्रधान दासी को, जो राजनीति में निपुण और दुनियादारी के मामलों में पूरी चण्ट, जहाँदीदा और जमानेसाज थी,

कैकेयी की देख-रेख, शिक्षा-दीक्षा और जाँच-पड़ताल के लिये साथ लगा रक्खा था। कैकेयी के 'स्वत्वों और अधिकारों' की पूरी निगरानी का काम बहुत सोच-समझकर उन्होंने इसके सिपुर्द किया था। यदि यह न होती, तो राम के राज्याभिषेक में कोई बाधा न पड़ती, दशरथ की कूटनीति काम कर जाती, परन्तु इसी—सिर्फ़ इसी—ने अपनी चतुरता से राजा दशरथ के सारे मंसूबे धूल में मिला दिए। कैकेयी को वह पट्टी पढ़ाई, ऐसी ऊँच-नीच सुझाई कि दशरथ के तमाम हवाई क़िले एक फूँक में उड़ गए। सच तो यह है कि यह जिस काम के लिये नियुक्त की गई थी, उसमें इसने अपनी नमकहलाली अदा की, और खूब अदा की। केकयी को समझाते हुए उसने साफ़ कहा था कि राम का वनवास ही मुझे पसन्द है। इसी में तेरा हित और तेरे ज्ञातिपक्ष (पिता, भाई आदि) का कल्याण है—

तस्माद्राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः;
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव। ३३।
एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति। अयो०, ८ सर्ग

इसी से तो हम कहते हैं कि राजा दशरथ ने जान-बूझकर इस अवसर पर भरत को घर से निकाल दिया था। यह उनका एक षड्यन्त्र था, जो उन्होंने अत्यन्त शीघ्रता में राम के राज्याभिषेक का निर्णय लोगों को सुनाया, और कैकेयी के पिता को उसकी ख़बर तक न होने दी। और-तो-और, अपनी सबसे प्यारी रानी—कैकेयी—को भी कानोंकान उसकी ख़बर न होने

दी। कल प्रातःकाल राम का राजतिलक होगा, और आज शाम तक उसको इसका कुछ भी पता नहीं। सब सलाहें और सब बातें चाला-बाला की जा रही हैं। हम कह चुके हैं कि राजा दशरथ के मन में चोर था, जिसके कारण उन्हें अपने मनोरथ के विफल हो जाने की आशङ्का पहले से ही बनी थी।

राजाओं की सभा में राम के यौवराज्य का निर्णय कर लेने के बाद दशरथ ने राम को एकान्त में बुलाकर जो उपदेश दिया है, उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा—"हे राम, तुम्हारे राज्याभिषेक के सिवा और मुझे अब कुछ करना बाक़ी नहीं है, इसलिये जो कुछ मैं कहूँ, उसका तुम पालन करो। मेरी ग्रह-दशा आजकल अच्छी नहीं है, अतः जब तक मेरे चित्त में कोई व्यामोह (भ्रम) न पैदा हो, तभी तक तुम अपना अभिषेक कर लो। आज की रात तुम्हारे विश्वस्त मित्र बड़ी सावधानी से तुम्हारी रक्षा करने में तत्पर रहें। देखो, इस प्रकार के कार्यों में बड़े-बड़े विघ्न हो जाया करते हैं। जब तक भरत इस नगर के बाहर हैं, तभी तक—उससे पहले ही—तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाना मैं उचित समझता हूँ।"

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवाऽन्यत्राभिषेचनात् ;
अतो यत्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि। १७।
अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः ;
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः। १८।
तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव ;

तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः । २० ।
सुहृदश्चा प्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ;
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवं विधानि हि । २४ ।
विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ;
तावदेवाभिषेक्तस्ते प्राप्तकालो मतो मम । २५ ।
कामं खलु सतां वृत्त भ्राता ते भरतः स्थितः ;
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः । २६ ।
किन्तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम् । अयो०, ४ सर्ग

हम इन वाक्यों पर टिप्पणी करना अनावश्यक समझते हैं। इनसे स्पष्ट है कि भरत पर राजा दशरथ को पूर्ण विश्वास नहीं था, यद्यपि वह उन्हें सज्जन और धर्मात्मा समझते थे। साथ ही यह भी प्रकट है कि उन्होंने जान-बूझकर भरत को घर से बाहर कर दिया था, और वह यह चाहते थे कि भरत के घर लौटने से पहले ही राम का अभिषेक हो जाय। इसके अलावा उन्हें यह भी खटका था कि कहीं कोई प्रच्छन्न शत्रु—घर में ही छिपा हुआ—रात्रि में सोते समय राम के ऊपर घातक आक्रमण न कर दे।

एक स्थान पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। जब राम ने कौशल्या से जाकर अपने राज्याभिषेक की बात कही, तब उन्होंने कहा कि हे राम, तुम चिरञ्जीवी होओ। आज तुम्हारे शत्रु नष्ट हुए। तुम राज्य पाकर मेरे और सुमित्रा के (केकयी के नहीं) सम्बन्धियों (पितृपक्ष) को आनन्दित करो।

वत्स राम चिरञ्जीव हतास्ते परिपन्थिनः ;

ज्ञातीन्मे त्वं श्रियायुक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ।३६। अयो०, ४ सर्ग

इससे स्पष्ट है कि राम और भरत के राज्याधिकार-सम्बन्ध में पहले से ही कुछ शतरंज की चालें चली जा रही थीं। कौशल्या भरत को और उनके पक्षवालों को राम का शत्रु समझती थीं। आज राम-राज्य की बात सुनकर झट उनके मुँह से 'हतास्ते परिपन्थिनः' निकल पड़ा। इससे दो बातें और भी स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कैकेयी से कौशल्या की प्रधान प्रति-द्वन्द्विता थी ; दूसरे यह कि सपत्नी होने पर भी सुमित्रा को वह अपने पक्ष का समझती थीं। अपने और सुमित्रा के सम्बन्धियों की सिफ़ारिश उन्होंने राम से एक साथ की। सुमित्रा ने कौशल्या के हृदय में कितना गहरा स्थान पा लिया था, यह इससे स्पष्ट है। सुमित्रा की राजनीति-निपुणता के सम्बन्ध में हम फिर कुछ कहेंगे।

यह कहना अत्युक्ति नहीं कि राजा दशरथ की पूर्वोक्त कुटिल चाल को मन्थरा के सिवा और किसी ने नहीं समझा। वाल्मीकीय वर्णन से तो यही मालूम होता है कि मन्थरा राजनीतिक चालों को हवा में सूँघकर पहचानती थी। दशरथ और राम की माता—कौशल्या—पर वह बड़ी कड़ी नज़र रखती थी एवं कैकेयी के हित के लिये सब कुछ करने को तयार रहती थी। साथ ही यह भी विदित होता है कि कैकेयी को स्वयं अपने हितों और स्वार्थों की न तो उतनी चिन्ता ही थी, और न उतना ज्ञान ही था, जितना मन्थरा को।

रामायण में लिखा है कि मन्थरा एक दिन अचानक ऊपर को छत पर चढ़ो। वहाँ से उसने अयोध्या-नगरो को बड़ी धूम-धाम से सजते देखा। दूसरो ओर घूमकर देखा, तो कौशल्या के मकान से लोग दान-दक्षिणा लेकर निकलते दिखाई दिए। बस, उसका माथा ठनका। अब उससे न रहा गया। उसने पास में खड़ी, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रसन्न-वदना किसो धाय से पूछा कि आज राम की माता लोगों को धन क्यों दे रही है? यह तो बड़ी कृपण है, इस समय इतनी उदारता क्यों दिखा रही है? आज इसे इतना हर्ष क्यों है? शायद यह धाय भो कौशल्या के यहाँ से इनाम पाकर लौटी थो। राम के राज्य का हाल जो सुना, तो मन्थरा के शरीर में आग लग गई। झट ऊपर से उतरी और लेटी हुई कैकेयो को फटकारने लगी कि अरी मूर्ख! पड़ी-पड़ी क्या कर रही है? उठकर बैठ। तेरे पाप उदय हुए हैं। एक राजा को लड़को और दूसरे की पट-रानो होकर भो तू राजनीति को उग्रता को नहीं समझती। तेरा पति ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, परन्तु भीतर से अत्यन्त दारुण शठ है। इस दुष्टात्मा ने तेरे पुत्र (भरत) को तो तेरे पिता के घर ढकेल दिया, और अब काँटा दूर करके कल राम को राज्य देने जा रहा है इत्यादि।

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता। १।

अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता। ६।

सा हर्षोत्फुल्लवदनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्;

अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा । ७ ।
उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणाऽर्थपरा सती ;
राममाता धनं किन्नु जनेभ्यः संप्रयच्छति । ८ ।
धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता ;
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत । १२ ।
सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी ;
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् । १३ ।
उत्तिष्ठ मूढे, किं शेषे, भयं त्वामभिवर्तते ;
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे । १४ ।
नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ;
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि, न बुध्यसे । २३ ।
धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः । २४ ।
अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ;
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके । २६ । अयो०, ७

यह हम पहले कह चुके हैं कि कैकेयी सुंदर, सरल, छबीली और अल्हड़ थी। राजनीतिक चालों को बहुत कम समझती थी। राजा दशरथ ने उसे खूब फुसला रक्खा था। हाँ, दशरथ को वह अपने हाथ की कठपुतली अवश्य समझती थी, जो बहुत कुछ ठीक भी था। मन्थरा की पूर्वोक्त बातें सुनकर वह उलटी प्रसन्न हुई।

अतीव सा तु सन्तुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ;
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् । ३२ ।

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम् ;

एतन्मे प्रियमाख्यातं किंवा भूयः करोमि ते । ३४ ।

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये । ३५ । अयो०, ७ सर्ग

और-तो-और, कैकेयी ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि अभी राम को राज्य होता है, तो होने दो। राम के बाद तो भरत को ही राज्य मिलेगा।

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् ;

पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः । ७६ । अयो०, ८

इससे स्पष्ट है कि कैकेयी को राजधर्म का ज्ञान बहुत कम था। उसे मन्थरा ने बताया कि राम का राज्य होने पर फिर उन्हीं की सन्तान राज्य की अधिकारी होगी। भरत राजवंश से ही गिर जायँगे, और तू राम की माता के सामने दासी की तरह उपस्थित होगी, एवं राज्य पाने पर राम अपने शत्रु—भरत—को या तो देशान्तर भेज देंगे, या लोकान्तर—स्वर्ग—को रवाना कर देंगे। फिर भी कैकेयी को अपने रास्ते पर आते न देखकर उसने विपत्त का इतना भयानक चित्र खींचा कि कैकेयी के होश उड़ गए, और वह मन्थरा की चेली या चेरी बन गई। इस जगह यद्यपि मन्थरा ने अपने कर्तव्य का पालन किया—जिस काम के लिये वह नियुक्त की गई थी, वह उसने पूरा किया—परन्तु राजनीतिक दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। उसे इसका अधिकार भी नहीं था, वह परतन्त्र थी।

जब भरत अपनी माता के कृत्य से अत्यन्त दुखी होकर

वनवासी राम को लौटाने के अभिप्राय से चित्रकूट पर गए थे, तब वहाँ राम ने अपने पिता को इस प्रतिज्ञा का स्पष्ट उल्लेख करके लौटने से इनकार किया था—

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ;

मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् । अयो०, १०७ सर्ग

हे भाई, हमारे पिता ने तुम्हारी माता के विवाह के समय नाना से राज्य-शुल्क की प्रतिज्ञा की थी। वर की ओर से कन्या-पिता को दिए जानेवाले द्रव्य को शुल्क कहते हैं। कैकेयी के पिता ने अपने दौहित्र—कैकेयी के पुत्र—का राज्याधिकार ही शुल्क के रूप में माँगा था, और दशरथ ने उसे देने की प्रतिज्ञा की थी।

इसके अतिरिक्त एक बार देवासुर-संग्राम में राजा दशरथ मूर्च्छित हो गए थे। उस समय कैकेयी साथ थी। उसने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। दशरथ चंगे हो गए। तब उन्होंने कैकेयी से दो वरदान माँगने को कहा। उसने कहा कि जब आवश्यकता होगी, तब माँग लूँगी। मेरे ये दोनो वर आपके पास धरोहर के रूप में तब तक रहेंगे। जब भरत ने राम से यह कहा था कि हमारे कुल में ज्येष्ठ पुत्र को ही धर्मानुसार राज्य प्राप्त होता है, अतः मैं आपसे छोटा होकर यह धर्म-विगर्हित कार्य कैसे करूँगा, उस समय उन्होंने पूर्वोक्त बात के अतिरिक्त इन दोनो वरदानों की भी चर्चा की थी।

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ;

संप्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ।

अब सोचना यह है कि जब कैकेयी के पिता से राजा दशरथ ने उनके दौहित्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी, तो कैकेयी ने उसकी चर्चा क्यों छोड़ दी ? राजा दशरथ से उसने इन्हीं दोनों वरदानों की याचना क्यों की ? उसकी राजनीतिक गुरु (मन्थरा) ने भी इन्हीं की सलाह क्यों दी ? कैकेयी ने जब उससे पूछा कि मैं आज ही राम को निकालकर भरत का राज्याभिषेक कराती हूँ, परन्तु तू कोई उपाय तो बता, जिससे यह काम हो सके, तब उसने कहा था कि तुम अपने उन्हीं दोनों वरदानों की माँग राजा के सामने पेश करो, जो तुम्हें उन्होंने देवासुर-संग्राम में दिए थे। एक से राम का वनवास और दूसरे से भरत का राज्य माँगो । चौदह वर्ष तक जब राम वन में रहेंगे, तो इतने समय में भरत प्रजा के हृदय में स्थान पा जायँगे, और फिर उनके राज्य-भ्रष्ट होने की आशङ्का न रह जायगी।

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं संस्थापयाम्यहम् ;
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये । २ ।
इदं त्विदानीं संपश्य केनोपायेन साधये ;
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथञ्चन । ३ ।
तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ;
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश । २० ।
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ;
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति । २१ । अ०, १९ सर्ग

राम-वनवास के समय न तो मन्थरा ने ही कैकेयी के विवाह

के समय को हुई दशरथ की प्रतिज्ञा का ज़िक्र किया, और न कैकेयी ने उसकी कोई चर्चा की। आख़िर इसका क्या कारण? कारण स्पष्ट है। आज अयोध्या में कैकेयी की बात का समर्थन करनेवाला कोई नहीं है। उसके पिता को ख़बर तक नहीं भेजी गई है। उसके भाई को भी घर से विदा कर दिया गया है। साथ ही उसके पुत्र को भी रवाना कर दिया गया है। अब इस असहाय दशा में उसकी बात जनता तक पहुँचाए कौन? राजा दशरथ तो स्वयं उसके प्रच्छन्न विरोधी हैं। वह उसे उस अधिकार से वञ्चित करना चाहते हैं। यह सब मायाजाल उन्हीं का तो रचा हुआ है। फिर वह अकेली परदे में रहनेवाली अबला अपने पक्ष का समर्थन किससे कराए? अयोध्यावासियों के सामने दशरथ ने अपनी उस अनुचित प्रतिज्ञा को छिपाया भी अवश्य होगा। फिर यदि यह सब कुछ न मानें, तो भी उसका आधार लेने से कैकेयी का पक्ष कुछ दुर्बल हो जायगा। धर्मशास्त्र के अनुसार विवाह में या कामावेश में आकर की हुई प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं होता। उस समय झूठ बोलना गुनाह नहीं समझा जाता।

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे;
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।

आज दशरथ भी राम का अभिषेक चाहते हैं, और समस्त प्रजा भी यही चाहती है। महर्षि वशिष्ठ से लेकर प्रजा का बच्चा-बच्चा तक राम-राज्य का अभिलाषी है। ऐसे अवसर पर

कैकेयी यदि अपने विवाह के समय की प्रतिज्ञा के आधार पर कोई बात उठाए, और दशरथ कहीं कह दें कि हमने तो विवाह करने के लिये वह बात यों ही कह दी थी। उसमें कोई सचाई नहीं था, न वह कोई प्रतिज्ञा थी, तब तो फिर कैकेयी का 'सब गुड़ गोबर' ही हो जायगा। सब लोग दशरथ के मनोरथ—राम-राज्य—का ही समर्थन करेंगे, और कैकेयी को कोई भी न पूछेगा। उलटी हँसी होगी। बात भी जाती रहेगी, और कुछ बनेगा भी नहीं। इसीलिये न तो मन्थरा ने और न कैकेयी ने ही इसकी चर्चा की, बल्कि देवासुर-संग्राम की बात को ही पकड़ा।

देवासुर-संग्राम की बात अत्यन्त प्रसिद्ध थी, हजारों आदमियों के सामने युद्ध में दशरथ घायल हुए थे। वहाँ जा कैकेयी ने सेवा की थी, उसे भी बहुतों ने जाना था। स्वयं दशरथ ने भी उसकी चर्चा अनेक बार की थी। सब अयोध्यावासी इन वरदानों की बात अनेक बार सुन चुके थे। दशरथ के विवाह की गुप्त प्रतिज्ञा की तरह ये वरदान प्रच्छन्न नहीं थे। इन्हें टालने का सामर्थ्य किसी धर्मशास्त्र के वाक्य में न था। वशिष्ठ आदिकों की ओर से इसके हटाए जाने की कोई आशङ्का नहीं थी। कैकेयी को भला-बुरा चाहे कोई भले ही कहे, पर उसके मनोरथ को टालने की युक्ति किसी के पास नहीं थी। राजनीतिक दृष्टि से कैकेयी को इस प्रबल पक्ष का ही आश्रय लेना उचित था।

इस प्रकार विचार करने से विदित होगा कि राम-वनवास के लिये न तो मन्थरा के ऊपर शूर्पणखा या अन्य किसी राक्षसी के

आवेश की आवश्यकता है, न कैकेयी के सिर पर किसी पिशाच के चढ़ाने की जरूरत है। यह एक राजनीतिक खेल है, जिसमें राजा दशरथ, कैकेयी और मन्थरा से कहीं बढ़कर, राम-वनवास के लिये दोषी हैं। इन्होंने अपने बुढ़ापे के विवाह के लिये कैकेयी के पुत्र को राज्य दे देने की अनुचित प्रतिज्ञा की, फिर कैकेयी के सम्बन्धियों की आँख बचाकर राम का राज्याभिषेक करने में दूसरा अनौचित्य किया। घर से भरत तक को उस समय निकाल दिया, कैकेयी को इतना भुलावे में रक्खा—इस क़दर फुसलाया—कि वह इनकी कोई चाल न समझ सकी, परन्तु दुर्भाग्य-वश इनकी चाल सफल न हो सकी। मन्थरा ने सब भण्डाफोड़ कर दिया। दशरथ यह कदापि नहीं समझते थे कि कैकेयी, युद्ध में दिए वरदानों से राम-वनवास की कामना करेगी। अधिक-से-अधिक उनका ध्यान अपने विवाह के समय की हुई प्रतिज्ञा की ओर था, और उसके परिहार का उपाय भी, सम्भव है, उन्होंने सोच लिया हो, परन्तु मन्थरा की सुझाई बात को कैकेयी के मुँह से सुनकर वह हक्के-बक्के रह गए। साम, दाम, दण्ड, भेद तो उन्होंने बहुत दिखाए, लेकिन कैकेयी की माँग को निर्मूल सिद्ध करने का कोई उपाय उनके पास नहीं था। वह अपने रचे जाल में स्वयं ही फँस गए।

सुमित्रा राजा दशरथ की मध्यम महारानी थीं। सबसे बड़ी कौशल्या और सबसे प्यारी कैकेयी। सुमित्रा बेचारी न इधर में, न उधर में। राज्य का अधिकार या तो कौशल्या के पुत्र को

हो सकता है या कैकेयी के पुत्र को। सुमित्रा इन सब बातों को—कौशल्या की ज्येष्ठता और कैकेयी के विवाह की प्रतिज्ञा के रहस्य को—ख़ूब समझती थीं। वह जानती थीं कि मेरा पुत्र तो राज्य का अधिकारी होने से रहा, अतः मेरी कुशल इसी में है कि इन्हीं दोनो सपत्नियों को क़ाबू में रक्खा जाय। कौशल्या से उनका मन मिलता था। उदारता, गम्भीरता और दया-दाक्षिण्य कौशल्या में बहुत थे। सुमित्रा की नम्रता और विनय-पूर्ण सेवा ने कौशल्या के हृदय में स्थान कर लिया था, परन्तु कैकेयी स्वभाव की अल्हड़ थी और घमंडी भी। उससे सुमित्रा की कम पटती थी, तथापि सुमित्रा ने राजनीतिक दूरदर्शिता से एक बहुत बड़ा काम किया था। अपने दो पुत्रों—लक्ष्मण और शत्रुघ्न—में से एक—लक्ष्मण—को कौशल्या के पुत्र—राम—का सहयोगी बनाया था, और दूसरे—शत्रुघ्न—को कैकेयी-पुत्र—भरत—का सहचारी बनाया था। अन्त में, चाहे सहवास के कारण हो, चाहे प्रकृति की अनुरूपता के कारण हो या ईश्वरीय इच्छा के कारण हो, राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न की दोनो जोड़ियाँ अविच्छिन्न-सी दीखने लगीं। राम का लक्ष्मण से और भरत का शत्रुघ्न से सहोदर का-सा—बल्कि उससे भी अधिक—प्रेम हो गया। यों तो सभी का पारस्परिक प्रेम था, परन्तु राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न की तो ऐतिहासिक जोड़ियाँ बन गईं। यह सुमित्रा की राजनीतिज्ञता का ही फल था। अब चाहे राम को राज्य मिले, चाहे भरत को मिले,

सुमित्रा को अपने लिये कोई चिन्ता नहीं। उसका एक-न-एक पुत्र राजा का प्रधान पुरुष अवश्य रहेगा। राज्य के उत्तराधिकारियों—राम और भरत—के साथ उसके पुत्रों का यहाँ तक अटूट प्रेम है कि राम के साथ लक्ष्मण प्रसन्नता-पूर्वक वन में गए, और भरत के साथ शत्रुघ्न उनके मामा के यहाँ पहुँचे। एक के विना दूसरे को चैन नहीं। इससे अधिक और क्या चाहिए ?

इस प्रकार अयोध्या के राजघराने के उक्त पात्रों की परिस्थिति पर विचार करने से विदित होगा कि इस राजनीतिक क्षेत्र में दशरथ, मन्थरा, कौशल्या और सुमित्रा, ये ही प्रधान पात्र थे। इनमें सबसे उत्कृष्ट और निर्दोष विजय सुमित्रा को मिली। मन्थरा ने राजा दशरथ को पछाड़ा, कौशल्या सब प्रकार से हार खाकर भी सबसे अधिक विजयिनी हुई और कैकेयी सबसे अधिक विजय पाकर भी अन्त में बुरी तरह हारी। राजनीतिक क्षेत्र में ये सब बातें साधारण हैं। रामायण में कैकेयी का चरित्र एक भयानक उल्कापात के समान अचानक चमककर सदा के लिये शान्त हो जाता है।

लक्ष्मण और शत्रुघ्न को इस शतरंज का बहुत कम ज्ञान था। हाँ, राम सब कुछ समझते थे और खूब समझते थे। यदि यह कहा जाय कि उनसे अधिक कोई नहीं समझता था, तो अत्युक्ति न होगी। राम और भरत की नीति पर हम आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

इस प्रकरण से हिन्दुओं की प्राचीन राज-व्यवस्था पर भी

कुछ प्रकाश पड़ता है। जिसे राज्य देना है, उसके सम्बन्ध में प्रजा की सम्मति लेना आवश्यक होता था। राजा दशरथ ने अपनी प्रजा के प्रधान-प्रधान पुरुषों की सभा में राम के राज्याभिषेक का प्रश्न उपस्थित करके लोगों से कहा कि यदि मेरे इस विचार को आप लोग उचित समझते हों, तो वैसी सलाह दीजिए, नहीं तो जो उचित हो, वह बताइए। यद्यपि मेरी यह इच्छा है, परन्तु यह दोष-युक्त हो सकती है, मैं अपने किसी सम्बन्धी का पक्षपात कर सकता हूँ, परन्तु आप लोगों का विचार बिलकुल निष्पक्ष होगा। आप लोग मध्यस्थ (तटस्थ) हैं, आप किसी के पक्षपाती नहीं हैं। यदि मेरी इच्छा प्रजा के हित के विरुद्ध हो, तो आप लोग जो हितकर हो, उसी का विचार कीजिए इत्यादि—

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम्;
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम्। १२।
यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया वा साधु मन्त्रितम्;
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्। १५।
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्;
अन्या मध्यस्थचिन्ता हि विमर्दाभ्यधिकोदया। ७६।

राजा दशरथ ने कैकेयी के विवाह में उसके पुत्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी, इससे यह भी मालूम होता है कि राज्याभिषेक में पूर्ववर्ती राजा की इच्छा का प्राधान्य रहता था, परन्तु यदि प्रजा विरुद्ध हो, तो नवाभिषिक्त राजा का राज्य

करना कठिन हो जाता था। भरत के राज्य स्वीकार न करने में एक प्रधान कारण समस्त प्रजा का विरुद्ध होना भी था। इसका विचार हम आगे करेंगे।

राम-कथा एक तो स्वयं स्वभाव से आकर्षक और रसीली है, उस पर फिर महर्षि वाल्मीकि की वह रससिद्ध अलौकिक लेखनी, जिसके कारण पद-पद पर करुण-रस का समुद्र उमड़ने लगता है, फिर राम-वनवास का हृदय-द्रावक प्रकरण, जिसमें पत्थर के कलेजे भी मोम की तरह पिघलने लगते हैं और वज्र का भी हृदय फटने लगता है। एक ओर रनवास का हाहाकार और दूसरी ओर प्रजा का करुण-क्रंदन, राजा दशरथ का विलाप और कौशल्या का आर्तनाद, रानियों से लेकर दासी-दासों तक का फूट-फूटकर रोना और बच्चों से लेकर बुड्ढों तक का बे-तरह बिलखना, एवं इस करुण-सागर में पर्वत के समान राम का अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहना एक अजीब समा बाँध देता है। कोई राम के कोमल कलेवर को वनवास की कठिन तपस्या के अयोग्य बताता है, तो कोई सीता की सुकुमारता से कानन के कठोर कष्टों की तुलना करके काँपने लगता है। कोई लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति को धन्य-धन्य कहता है, तो कोई कैकेयी के क्रूर कलेजे को कोसता है। सब एक ही प्रवाह में बह रहे हैं, सब एक ही सागर में डूब रहे हैं, सब एक ही नशे में चूर हैं, और सब एक ही रंग में सराबोर हैं। वाजपेय-यज्ञ के श्वेतच्छत्र धारण किए

हुए, सन के समान श्वेत केशवाले वृद्ध महर्षियों का राम के रथ के पीछे रोते हुए दौड़ना, घोड़ों का साथ न कर सकने के कारण पश्चात्ताप करके चिल्लाना, उन्हें देखकर राम का रथ से उतरकर पैदल चलना, रोती और हाहाकार करती हुई समस्त प्रजा का राम के साथ-साथ वनवास के लिये तैयार हो जाना इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं कि जिनसे रामायण के पढ़ने-सुननेवाले भी करुण-रस के स्रोत में बहने लगते हैं। उस समय राजनीति की बात सोचना भी कठिन हो जाता है। राम की धर्मनिष्ठा, प्रजा का प्रेम और कैकेयी की क्रूरता ही उस समय दीखती है, और कुछ नहीं।

परन्तु एक व्यक्ति को उस समय भी हम ऐसा पाते हैं, जिसकी पैनी दृष्टि उस भीषण अहले (बढ़िया) के समय भी अक्षुण्ण बनी थी। करुण-सागर में बहते हुए भी राजनीतिक परिस्थिति की बारीकियाँ समझने में उसकी बुद्धि समर्थ थी, उसका नाम था सुमित्रा।

राम जब किसी के रोके न रुके, वन को चले ही गए, तब दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा (और कैकेयी भी) सब घर लौटे। दशरथ ने कैकेयी का परित्याग किया, और कौशल्या के घर गए। कौशल्या के व्यथित हृदय से उस समय अनेक उद्गार निकले। वह बहुत कुछ विलाप करके मूर्च्छित हो गईं। उस समय सुमित्रा ने सेवा-शुश्रूषा की, और अन्त में बहुत कुछ ढाढ़स बँधाया। उन्होंने कौशल्या को समझाया कि राम के

शरीर में राजा के सब लक्षण मौजूद हैं। उनमें कोई ऐसा दूषित चिह्न नहीं है, जिससे वे राज्य-भ्रष्ट हो सकें। उन्हें विश्वामित्र ने दिव्य अस्त्र दिए हैं। सुबाहु राक्षस को उन्होंने बिना अस्त्र पाए ही मार दिया था। ऐसे दिव्यास्त्र बल-सम्पन्न पुरुष-सिंह को वन में किसका डर है? राम में राज्यश्री है, शौर्य है और सबसे बढ़कर प्रजा की हित-कामना है, फिर उनके राज्य को लेनेवाला दूसरा कौन है? वह शीघ्र ही वन-वास से लौटकर अपना राज्य पाएँगे। जिन राम को वन जाते देखकर समस्त अयोध्या-निवासी शोकावेग से आँसू बहाते हैं, उनका राज्य-हरण करने का सामर्थ्य किसमें है?

कुश, चीर-धारण करने पर भी जिन राम के पीछे-पीछे सीता की तरह लक्ष्मी भी वन को चली गई है, उन्हें क्या दुर्लभ है? निःसन्देह राम के पीछे राज्यलक्ष्मी भी वन को चली गई थी, परन्तु उसे जाते हुए देखने का सामर्थ्य या तो राजनीति-निष्णात सुमित्रा में था या फिर वशिष्ठ-जैसे त्रिकालदर्शी महर्षियों में। रामायण में लिखा है—(सुमित्रा की उक्ति कौशल्या से)

दद्दौ चाऽस्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे ;

दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे। ११।

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ;

असंत्रस्तो ह्यरण्येऽस्मिन् वेश्मनीव निवत्स्यते। १२।

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता ;

निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति। १३।

दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम्;
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः। १८।
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम्;
सीतेवाऽनुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम्। १९। अ०, ४४

सुमित्रा ने ठीक ही देखा था कि राम के साथ राज्यलक्ष्मी भी वन को गई है। राम प्रजा का हृदय लेकर वन गए थे। प्रजा के हृदयों में राम का अखण्ड राज्य था। उनके बिना प्रजा व्याकुल थी। राम ने जैसे-जैसे धर्म-निष्ठा दिखाई, वैसे-ही-वैसे प्रजा उन्हीं को अपना राजा बनाने की कामना करने लगी। धर्मनिष्ठा के बल पर ही वे प्रजा के हृदयों में राम-राज्य की स्थापना कर सके थे—

यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत्;
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन्। ११। अयो०, ४९ सर्ग

राम में प्रजा का अत्यधिक प्रेम था, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। अब यह उनके ईश्वरत्व के कारण था या राजनीति-नैपुण्य के कारण, इस पर हम यहाँ विवाद उठाना नहीं चाहते। कारण चाहे जो कुछ हो, परन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं कि ऋषि से लेकर चाण्डाल तक और बूढ़ों से लेकर बच्चों तक सभी राम-राज्य के पक्षपाती थे। निषादराज (गुह) भी राम के पक्षपाती थे। इन्होंने वनवास के समय बड़े आदर से राम को गङ्गा-पार उतारा था, और यह भी कहा था कि आप यहीं रहिए। यह भी वन है। यहाँ का कोना-कोना मेरा जाना हुआ

है। एक बार चतुरङ्गिणी सेना भी आ जाय, तो मैं अपनी नावों और इस वन की विशेषज्ञता के कारण उसके छक्के छुड़ा सकता हूँ।

न मेऽस्त्यविदितं किञ्चिद् वनेऽस्मिश्चरतः सदा ;

चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत् सन्तरेमहि । ७ । अ०, ९१ सर्ग

इन्हीं निषादराज ने जब भरत को सेना-सहित आते (राम को वन से वापस लाने के लिये) देखा, तो चमक उठे। अपने अनुयायियों से बोले कि सावधान हो जाओ। उमड़ते हुए समुद्र के समान यह बड़ी सेना इधर ही बढ़ती चली आ रही है। कोविदार की ध्वजा-से मालूम होता है कि यह भरत की सेना है। सम्भवतः दुर्बुद्धि भरत राम को मारने की इच्छा से आ रहा है। नावें तयार कर लो। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो जाओ। मैं जाकर देखता हूँ, यदि भरत के मन में मैल न हुआ, तब तो उसे गङ्गा-पार उतार देंगे, नहीं तो यहीं मर मिटेंगे। हमारे जीते-जी, यह राम का बालबाँका न कर सकेगा।

बस, निषादराज भरत के पास पहुँचे। उनसे साफ़-साफ़ पूछ बैठे कि तुम्हारे मन में कोई दुर्भाव तो नहीं है ? फिर सब जानने के बाद उन्हें वह स्थान दिखाया, जहाँ पर कुश बिछा-कर राम सोए थे। लक्ष्मण के साथ जो बातचीत हुई थी, वह भी कही। जब अच्छी तरह देख लिया कि भरत के मन में कपट नहीं है, वह राम के दुःख से वस्तुतः दुःखी हैं, तब सेना को पार उतारा। फिर भी अपनी सेना लेकर उनके साथ चित्र-

कूट तक गए। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि वह रास्ता बताने और जङ्गल में ढूँढ़ने गए थे, और यह भी हो सकता है कि यदि कुछ गोलमाल हुआ, तो हम सब राम के नाम पर प्राण देने को तयार रहेंगे। सच्ची मित्रता इसी का नाम है।

इधर भरत जब भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचे, तो उन्होंने भी यही कहा कि "भला तुम राज्य छोड़कर इधर क्यों आए? मेरा चित्त पतियाता नहीं। तुम कहीं निष्पाप राम के साथ पाप करने तो नहीं जा रहे हो? तुम्हारी इच्छा निष्कंटक राज्य करने की तो नहीं है?"

किमिहागमन कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ;

एतदाचक्ष्व सर्वं मे नहि मे शुध्यते मनः। १०।

कच्चिन्न तस्याऽपापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ;

अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च। १३। अयो०,९०सर्ग

भरद्वाज मुनि ने अन्त्य में बता भी दिया कि मैंने केवल तुम्हारी परीक्षा की है। मैं तुम्हारे जी का हाल जानता हूँ। साथ ही भरत की सम्पूर्ण सेना का अपनी कुटिया में बैठे-बैठे ही यथेष्ट सत्कार करके उन्हें अपने तपोबल का परिचय भी करा दिया। अपने को राम का पक्षपाती भी बता दिया, और अपना बल भी दिखा दिया।

इन घटनाओं पर ध्यान देने से पता चलेगा कि निषाद से लेकर ब्रह्मर्षि तक राम के पक्षपाती थे। ऐसी दशा में राम का विरोध करनेवाले की क्या दशा होगी, यह स्पष्ट ही है। उनका

राज्य-हरण करने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है ? सुमित्रा ने ठीक ही कहा था कि राज्यलक्ष्मी भी राम के साथ वन को गई है। सुमित्रा के राजनीतिक ज्ञान की प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

इस प्रकार हमने इस लेख में राम-वनवास से सम्बन्ध रखनेवाली दो-चार घटनाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। यद्यपि राम की राजनीतिज्ञता का परिचय भी उनके वन-वास के समय से ही मिलने लगता है। एक प्रकार से देखा जाय, तो राम ने इसी समय से राजनीतिक जीवन में पदार्पण किया है। वनवास के समय उनकी अनेक बातें ऐसी हैं, जो राजनीतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं, परन्तु हम उन्हें यहाँ विस्तार-भय से छेड़ना नहीं चाहते।

(राम की नीति)

राम धर्मात्मा थे, यह बात सर्वसम्मत है। अनेक ऋषियों ने, समस्त प्रजा ने, यहाँ तक कि राम के विरोधियों ने भी राम की धर्मनिष्ठा का एकस्वर से समर्थन किया है। राम ने स्वयं भी अनेक अवसरों पर—जैसे वनवास के समय कैकेयी, दशरथ, कौशल्या और लक्ष्मण से, वन में लक्ष्मण, सुग्रीव और विभी-षण आदि से—अपनी धर्मनिष्ठा को सबसे उत्कृष्ट बताते हुए धर्म का ही गुणगान किया है। फिर जब वह मर्यादापुरुषोत्तम थे—धर्म की मर्यादा बाँधने के लिये ही उनका अवतार हुआ था, तब उनके द्वारा धर्म का बखान और अनुष्ठान कोई आश्चर्य की बात नहीं। हमें उस विषय में यहाँ कुछ कहना नहीं। हमें

यहाँ तो यह देखना है कि राम की नीति में केवल धर्म-ही-धर्म की पुकार थी या कुछ राजनीति का भी भाग था। वे कोरे सनातनधर्म के उपदेशक ही थे या राजनीति-निष्णात सच्चे राजा भी थे। यदि सचमुच राम के जीवन में राजनीतिक विचारों और उसकी कुटिल चालों के ज्ञान को कोई स्थान न मिल सके, तो राजनीतिक दृष्टि से उनका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। फिर उन्हें चाहे धर्मोपदेशक कहिए, चाहे धर्मात्मा कहिए, चाहे ऋषि कहिए या और कुछ कहिए, परन्तु सच्चे और पूर्ण राजा वह नहीं कहा सकते।

हम यह पहले बता चुके हैं कि दशरथ के राजघराने में राजनीतिक शतरंज बहुत दिनों से बिछी हुई थी। कैकेयी के पिता, कौशल्या, मन्थरा और दशरथ इसके प्रधान खिलाड़ी थे। भीतर-ही-भीतर राम और भरत का दाँव लगाया गया था। राम इन सबकी चालों को खूब समझते थे और अपने ऊपर आनेवाली विपत्ति का परिहार करने के लिये पहले से ही तयार थे।

राजा दशरथ ने कैकेयी के साथ इस शर्त पर शादी की है कि उसी के पुत्र को राज्य दिया जायगा, यह बात यदि राम ने ही स्वयं न बताई होती, तो आज किसी को उसका ज्ञान ही न होता। सब यही समझते कि देवासुर-संग्राम में दशरथ ने कैकेयी को जो दो वरदान दिए थे, उन्हीं के कारण राम को वनवास मिला और भरत को राज्य। परंतु सूक्ष्म दृष्टि से रामायण पढ़नेवालों की शंकाओं का समाधान उस दशा में किसी प्रकार

नहीं हो सकता था। यदि सिर्फ़ वरदानों की ही बात थी, तो दश-रथ ने भरत को घर से बाहर निकालकर राम के अभिषेक की बात क्यों सोची ? उन्होंने यह क्यों कहा कि जब तक भरत शहर से बाहर हैं, तभी तक तुम्हारा (राम का) अभिषेक हो जाना चाहिए। वरदानों से कैकेयी भरत के लिये राज्य माँगेगी, इसकी तो उस समय किसी को सम्भावना ही नहीं थी। फिर वर-दानों का निवारण भरत को हटाने से कैसे हो सकता था ? उनके माँगनेवाली कैकेयी तो घर में ही बैठी थी। यदि ऐसा ही था, तो कैकेयी को घर से हटाना चाहिए था। मन्थरा को राम के राज्य की बात सुनकर इतना क्रोध क्यों आया ? क्या वह यह नहीं समझती थी कि राम ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतः धर्मानुसार वही राज्य के अधिकारी हैं ?

कौशल्या ने राम के राज्य पाने की बात सुनकर 'हतास्ते परिपन्थिनः' क्यों कहा ? राम के राज्य पाने में कौन शत्रुता कर रहा था ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिनका समाधान तभी हो सकता है, जब यह मान लिया जाय कि कैकेयी का विवाह उसके पुत्र को राज्य देने की शर्त पर किया गया था, परन्तु राम-वनवास तक सम्पूर्ण रामायण देख जाने पर भी इस शर्त का कहीं ज़िक्र नहीं मिलता। दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, मन्थरा आदि में से किसी ने इसका नाम तक नहीं लिया। हाँ, उनके रंग-ढंग से किसी गुप्त रहस्य की सूचना अवश्य मिलती है। इसी कारण हम कहते हैं कि यदि राम ने स्वयं उक्त शर्त

का उद्घाटन न किया होता, तो आज किसी को उसका पता ही न चलता।

अच्छा तो, राम को यह मालूम था कि उनके पिता भरत को राज्य देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं और वह यह भी जानते थे कि भरत को घर से निकालकर उन्हें राज्य देने में एक षड्यन्त्र रचा गया है। अब प्रश्न यह है कि पद-पद पर धर्म की दुहाई देनेवाले राम इस षड्यन्त्र में क्यों शामिल हुए ? उन्होंने उस समय यह क्यों नहीं कहा कि जब आप भरत को राज्य देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, तो धर्मानुसार वही राज्य के अधिकारी हैं, आप उन्हीं को राज्य दीजिए। यदि भरत पर उनका सच्चा प्रेम था, तो उन्होंने यह क्यों नहीं कहा कि जब तक भरत न आएँ, तब तक मेरे राज्याभिषेक का उत्सव अधूरा रहेगा। यदि भरत पर उनका पूरा विश्वास था, तो पिता की इस बात का उन्होंने प्रतिवाद क्यों नहीं किया कि "जब तक भरत बाहर हैं, तभी तक तुम अपने को अभिषिक्त कर लो ?"

यह कहा जा सकता है कि राम पिता के अनन्य भक्त थे। वह न तो पिता की किसी बात में गुण-दोष की परीक्षा करते थे और न उनकी कोई आज्ञा—चाहे वह कैसी ही क्यों न हो—टालना उचित समझते थे। वह आँख मोचकर पिता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझते थे और इसी कारण, जैसा जिस समय पिता ने कहा, उसी का उन्होंने पालन किया। उन्होंने कैकेयी से साफ़ कहा था कि 'अहं हि वचनाद् राज्ञः

पतेयमपि पावके' अर्थात् राजा की आज्ञा हो, तो मैं आग में भी कूदने को तयार हूँ। राम इसके पूरे पक्षपाती थे कि 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया'। कौशल्या से उन्होंने स्पष्ट कहा था कि परशुराम ने पिता की आज्ञा से अपनी मा का गला काट डाला था, अतः पिता की सब आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं।

बहुत अच्छा! हम यह बात माने लेते हैं, लेकिन यह बताइए कि यदि राम आँख मीचकर पिता की आज्ञा-पालन करना धर्म समझते थे, तो उन्होंने पिता की इस आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया?

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः;

अयोध्यायां त्वमेवाऽद्य राजा भव निगृह्य माम्। २६। अ०, ३४

अर्थात् हे राम, मैं कैकेयी के वरदान से व्यामोह में पड़ गया हूँ। तुम मुझे क़ैद करके अयोध्या के राजा बन जाओ। राम ने दशरथ की इस आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया? वह दशरथ को वंदी बनाकर स्वयं अयोध्या के राजा क्यों न बने? और-तो-और, जब दशरथ ने गिड़गिड़ाकर उनसे एक दिन अयोध्या में रुक जाने को कहा, तो उन्होंने उनकी उस आज्ञा को भी ठुकरा दिया। जब दशरथ ने कहा कि—

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मागच्छ सर्वथा;

एकाऽहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्। ३३।

मातरं मां च संपश्यन् वस मामद्य शर्वरीम्;

तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि। ३४।

त्वया तु मत्प्रियार्थं हि वनमेवमुपाश्रितम् । ३५ ।

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ;

छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया । ३६ । अ०, ३४

अर्थात् हे पुत्र, आज तो तुम हरगिज़ न जाओ। मैं एक दिन तुम्हें देखकर अच्छी तरह जी लूँ। मेरी और अपनी मा की ख़ातिर आज यहाँ रुक जाओ। कल सुबह चले जाना। उस समय सब प्रबन्ध ठीक हो सकेगा। (दशरथ चाहते थे कि कुछ ख़ज़ाना आदि राम के साथ कर दिया जाय) हे पुत्र, तुम मुझे प्रसन्न करने के लिये वन जा रहे हो, परन्तु मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ कि मैं तुम्हारे जाने से प्रसन्न नही हूँ। मैं तो राख में दबी आग के समान इस स्त्री (कैकेयी) से ठगा गया हूँ।

राम ने दशरथ की इस आज्ञा का पालन नहीं किया, यद्यपि दशरथ ने शपथ खाकर अपनी सत्यता प्रकट की थी। अपनी और कौशल्या की दीन-दशा दिखाकर उस पर तरस खाने के लिये राम से सिर्फ़ रात-भर रुकने का करुणा-पूर्ण आग्रह किया था, परन्तु उन्होंने पिता की वह बात स्वीकार नहीं की। तब फिर यह कैसे माना जाय कि राम पिता की सभी आज्ञाओं का पालन करने को सदा तयार रहते थे? वह अवश्य आगा-पीछा सोचते थे। धर्म के साथ राजनीतिक समस्याओं पर भी पूरा ध्यान रखते थे। उन्होंने दशरथ के उक्त आग्रह के उत्तर में कहा था कि आज जाने में मुझे जो गुण प्राप्त होंगे, उन्हें कल देनेवाला कौन है? अतः मैं आज ही यहाँ से चला जाना चाहता हूँ।

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान्प्रदास्यति ;
अपक्रमणमेवाऽतः सर्वकामैरहं वृणे । ४० । अ०, ३४

राम को उसी दिन अयोध्या से चले जाने में कौन-से गुण प्राप्त हुए, इसकी बात हम आगे कहेंगे । यहाँ केवल यही कहना है कि राम पिता की सब आज्ञाओं को आँख मीचकर कदापि नहीं मानते थे । तब फिर वही प्रश्न होता है कि भरत को घर से निकालने के षड्यन्त्र में वह क्यों शामिल हुए? उस समय उन्होंने धर्म की बात क्यों भुला दी ? जब उनके पिता भरत को राज्य देने की प्रतिज्ञा कर चुके थे और उन्हें यह मालूम था, तो उन्होंने यह धर्म की बात क्यों भुला दी ? अपने राज्य पाने के लिये भरत के साथ किए गए अन्याय का और कैकेयी (या उसके पिता) के साथ किए गए विश्वासघात का प्रतिवाद उन्होंने क्यों न किया ? क्या इसमें कोई राजनीतिक चाल थी ?

इस प्रश्न को सुलझाने के लिये कुछ दूर तक दृष्टि दौड़ानी पड़ेगी । यह कहा जाता है कि राम के अवतार का प्रयोजन रावण आदि राक्षसों का वध करना था और यह कार्य राम के दण्डकारण्य में प्रवेश करने के समय से आरम्भ होता है । इसमें कुछ न्यूनता है । यह ठीक है कि राक्षसों का वध राम के दण्ड-कारण्य में प्रवेश करने के बाद से ही आरम्भ हुआ है और यह भी ठीक है कि रावणादि का वध रामावतार का प्रधान प्रयोजन था, परन्तु उक्त अवतार का एक-मात्र वही प्रयोजन नहीं था । वस्तुतः राम के अवतार का प्रयोजन तो उनके जन्म के बहुत

पहले से उनके घर ही में—ख़ास उनके जन्म-स्थान में ही—पैदा हो गया था। राम मर्यादापुरुषोत्तम थे और ख़ास उन्हीं के घर की मर्यादा बिगड़ी हुई थी। वहीं से उनका कार्य आरम्भ होना था, और हुआ भी वैसा ही।

राम की परिस्थिति पर कुछ गहरी दृष्टि डालिए। दशरथ के वह सबसे बड़े पुत्र हैं और इसीलिये धर्मानुसार वही राज्य के उत्तराधिकारी हैं, परन्तु उनके पिता उनके जन्म से भी बहुत पहले यह अधिकार एक दूसरे—भरत—के नाम लिख चुके हैं। अब यदि राम उसे (राज्य को) स्वीकार करते हैं, तो उनके पिता की प्रतिज्ञा टूटती है और यदि पिता की बात पूरी करने के लिये धर्म के नाम पर राज्य छोड़ देते हैं, तो राजनीतिक दृष्टि से कायर ठहरते हैं। अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को यदि कोई छोड़ दे, तो धर्मोपदेशक लोग चाहे भले ही 'बोल सनातनधर्म की जय' के नारे बलंद करके उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दें, परन्तु राजनीतिज्ञों की दृष्टि में तो यह एक प्रकार की कायरता ही गिनी जायगी। फिर चाहे कोई केवल अपने शरीर के सुख-दुःख से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु को छोड़ भी दे, लेकिन जहाँ समस्त प्रजा के सुख-दुःख का प्रश्न है, वहाँ किसी को बिना सोचे-समझे कोई काम कर बैठने का अधिकार नहीं है। राम के सामने बड़ी कठिन समस्या है। 'भइ गति साँप छछूँदरि के-सी' वाला मज़मून है।

यह हम कह चुके हैं कि राम सब राजनीतिक चालों को ख़ूब समझते थे। वह जानते थे कि एक-न-एक दिन यह विकट

समस्या हमारे सामने उपस्थित होगी। उन्होंने इसका मुक़ाबला करने के लिये पहले से तयारी भी की थी।

राम का अभिषेक करने के लिये दशरथ ने जो राजाओं और प्रजा के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों की सभा की थी, उससे स्पष्ट है कि उन दिनों नवीन राजा बनाने का अधिकार राजा और प्रजा, दोनो को मिलकर था। राजा को प्रजा की सम्मति अवश्य लेनी पड़ती थी और यदि राजा कोई अनुचित काम करे, तो प्रजा उसका परिहार भी कर सकती थी। प्रजा के विरुद्ध राजा बना देने पर प्रजा क्या कर सकती थी, इसका पता तो नहीं चलता, परन्तु इतना अवश्य पता चलता है कि राज्य का उत्तराधिकारी चुनने में राजा का प्रधान अधिकार हुआ करता था। अब राम की दशा पर विचार कीजिए। उन्हें राजा और प्रजा, दोनो से अधिकार प्राप्त करना था। उन्हें राज्य देनेवाले दानो—दशरथ और उनकी प्रजा—थे। इसलिये राजा और प्रजा, दोनो को अपने अनुकूल बनाना, दोनो का अधिक-से-अधिक प्रेम प्राप्त करना, और दोनो का अटूट विश्वास अपने ऊपर पैदा करना राम का राजनीतिक कर्तव्य था। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि इस कार्य में राम को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। चाहे इसलिये कि वह ईश्वर का अवतार थे और चाहे इसलिये कि वह अलौकिक राजनीति-निष्णात थे या इसलिये कि वह बहुत बड़े धर्मात्मा थे, कारण चाहे कुछ हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राजा और प्रजा, दोनो का उन पर अटूट

विश्वास था। राजा का अनुपम प्रेम और प्रजा की अकृत्रिम भक्ति उन्होंने प्राप्त की थी। राम-वनवास की घटना से यह बात स्पष्ट हो गई। राजा ने तो उनके वियोग में प्राण ही दे दिए और प्रजा को जो व्याकुलता हुई थी, उसका भी कुछ हाल हम लिख ही चुके हैं। राजनीतिक क्षेत्र में राम की यह सबसे प्रथम और सबसे उत्कृष्ट विजय थी। यदि यह न हुई होती, तो उनका सब कार्य-क्रम ही अस्त-व्यस्त हो जाता।

जिन शक्तियों से राज्य मिलना था, उन दोनो पर राम का पूरा अधिकार था। राजा और प्रजा, दोनो के हृदय के ऊँचे-से-ऊँचे और गहरे-से-गहरे स्थान पर राम को आधिपत्य प्राप्त हो चुका था, लेकिन राम दशरथ की कमजोरी को भी खूब समझते थे। वह जानते थे कि कैकेयी के विरुद्ध कोई काम कर सकने की हिम्मत उनमें नहीं है। उन्होंने कई जगह दशरथ के कामी-पन की बात कही है। वह इस अवस्था से बेख़बर नहीं थे। उन्होंने कैकेयी और भरत को भी अपना प्रेम-पात्र बनाया था। भरत तो राम के अनन्य भक्त थे। वास्तव में देखा जाय, तो भरत का चरित्र सूर्य के समान उज्ज्वल और चन्द्रमा के समान शीतल है। वह कई जगह राम से भी बढ़ गए हैं। दशरथ का यह कहना बिलकुल ठीक था कि 'रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्' इसकी चर्चा हम भरत की नीति में करेंगे। यहाँ केवल यही कहना है कि भरत और कैकेयी, दोनो ही राम से हार्दिक प्रेम करते थे। दोनो में से किसी को राम पर अविश्वास

नहीं था। भरत की भक्ति तो अन्त तक अटल रही, परन्तु कैकेयी को भी यदि मन्थरा ने राम के विरुद्ध इस क़दर न भरा होता, यदि इतना भयानक चित्र खींचकर कि राम राज्य पाने पर भरत को देशान्तर या लोकान्तर (स्वर्ग) पहुँचा देंगे और तुझे कौशल्या की दासी बनकर रहना होगा इत्यादि—तो वह भी राम-राज्य का ही समर्थन करती। यह राम की दूसरी और सर्वाङ्गीण राजनीतिक विजय थी, जो मन्थरा के कारण अन्त में थोड़ी-सी फिसल पड़ी, लेकिन राम इसका ध्यान पहले से ही रखते थे। वह अवश्य जानते थे कि यदि कैकेयी, मन्थरा, युधाजित् (भरत के मामा) या अश्वपति (कैकेयी के पिता) के द्वारा उनके विरुद्ध राजनीतिक चक्र चलाया गया, तो उन्हें क्या करना होगा। भरत का चरित्र-बल या धर्मबल अथवा राम के ऊपर उनका अनुपम भक्तिमय प्रेम इस जगह काम कर गया। इसी के कारण इस राजनीतिक क्षेत्र में दो धूमकेतु उदय होते-होते रुक गए। यदि कहीं भरत ने राज्य स्वीकार कर लिया होता, तो उनके मामा और नाना के भी कुछ पैंतरे इस मैदान में दिखाई देते। लेकिन वह न हुआ। भरत ने उनके हौसलों पर पानी फेर दिया। जब दूल्हा ही नपुंसक निकल जाय, तो बराती बेचारे क्या करें! बस, केवल कैकेयी का उल्कापात होकर ही इस पर्दे का दूसरा भाग (Dark Side) दिखाई देने लगा।

इस प्रकार विचार करने से पता चलेगा कि राम को राज्य देनेवाली शक्तियों में से एक पक्ष (राजा दशरथ) निरापद नहीं

था। कैकेयी और भरत की ओर से दशरथ के इस कार्य (राम-राज्य) पर आपत्ति उठने का पूरी आशङ्का थी। इसके परिहार भी दो ही थे—एक तो यह कि कैकेयी तथा भरत का प्रेम और विश्वास राम पर इतना बढ़ जाय कि वे स्वयं कोई आपत्ति न उठाएँ, और दूसरा यह कि राजा दशरथ स्वयं अपने किए पाप का प्रायश्चित्त करें। राम को कैकेयी और भरत का प्रेम तथा विश्वास प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता मिल चुकी थी, यह बात कही जा चुकी है। निःसन्देह इन दोनो के हृदय पर राम ने विजय प्राप्त की थी। इनकी ओर से राम-राज्य में आपत्ति उठाए जाने की आशङ्का बहुत कम—नहीं के बराबर—थी। हाँ, दशरथ की प्रतिज्ञा भंग होने का भय अवश्य था और यहीं उनके प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता थी। कैकेयी के साथ विवाह करने के लिये काम-वश होकर उन्होंने अपने असली उत्तराधिकारी का हक़ मारने का जो पाप किया था, उसके प्रायश्चित्त का यही अवसर था। दशरथ स्वयं राम को राज्य देकर—साथ ही राम-राज्य के विरोधी (भरत के मामा) को हटाकर—एक प्रकार से यह स्वीकार कर रहे थे कि अपने विवाह के समय जो प्रतिज्ञा हमने की थी, वह सत्य नहीं थी। और उस असत्य से बचने के लिये धर्म-शास्त्र का एक अवलम्ब भी था।

> स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे ;
> गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।

इस तरह किसी प्रकार धर्म-शास्त्र का सहारा लेकर असत्य

बोलने की अनुमति पाना और अपने को धार्मिक असत्यवादी स्वीकार कर लेना ही दशरथ के पुराने पाप का प्रायश्चित्त था एवं उसके लिये वह तयार भी थे। इस दशा में राम उनका विरोध क्यों करते? भरत को राज्य देने को उनकी प्रतिज्ञा धर्म के नहीं, काम के अनुकूल थी। राम को उनके धर्म-सिद्ध एवं जन्म-सिद्ध राज्याधिकार से वञ्चित करना अधर्म था। यही अधर्म दशरथ ने किया था। और इस समय अपने दब्बूपन या कामी-पन के कारण—कैकेयी के कुटिल कटाक्ष से थर-थर काँपने के कारण—चुपके-चुपके भरत को हटाकर और कैकेयी को फुसला-कर उसी अधर्म का प्रायश्चित्त करने—राम को राज्य देने—जा रहे थे। ऐसी दशा में राम उनका प्रतिवाद क्यों करते? वे मर्यादापुरुषोत्तम थे। धर्म की मर्यादा बाँधने के लिये और अधर्म को दूर करने के लिये उन्होंने अवतार लिया था, फिर वह अधर्म चाहे उनके पिता का किया हुआ हो अथवा उनके शत्रु का, दोनो का परिहार करना उनका धर्म था। यदि दशरथ स्वयं अपने किए का प्रायश्चित्त किए लेते हैं, तो राम पर कोई आँच नहीं आती। धर्मानुसार और राजनीति के अनुसार उनका कार्य बनता है। उन्हें अपना राज्य मिलता है और पिता का प्रायश्चित भी होता है। यह ठीक है कि कुछ लोग दशरथ के कामित्व की आलोचना करेंगे, परन्तु वह तो होनी ही चाहिए। उनके कारनामों का यही तो पुरस्कार है। आख़िर उन्होंने ऐसा कौन-सा अच्छा काम किया था, जिसके बदले में उन्हें मथुरा

की खुर्चन के दोने मिलने चाहिए थे ? यह भी ठीक है कि भरत के नाना-मामा भी बड़ी हाय-हप्पड़ मचाएँगे, फूट-फूटकर रोएँगे, परन्तु यह भी आवश्यक है। उन्होंने दशरथ की कमज़ोरी से नाजायज़ फ़ायदा उठाया है। उनके कामीपन की रग पहचानकर असली उत्तराधिकारी को राज्य से वञ्चित कराया और अपने दौहित्र को राज्य दिलाने का अधर्म कराया है। उनका दोष दशरथ से भी अधिक है। उन्हें तो रोना ही चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध है कि राम ने राज्याभिषेक के समय जो कुछ किया, वह धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल ठीक किया। वहाँ किसी विरोधी को तिल रखने को भी गुंजाइश नहीं है।

परन्तु मन्थरा की राजनीति-निपुणता के कारण पासा पलट गया। दशरथ के प्रायश्चित्त की बात हवा में उड़ गई। वहाँ तो रंग ही दूसरा हो गया। उसने दशरथ की चाल को सांगोपांग समझा और ख़ूब समझा। साथ ही उनकी चाल को काटा भी, इस ख़ूबसूरती से कि राजनीतिक दृष्टि से उसे दाद दिए विना नहीं रहा जाता। उसने कैकेयी के विवाह की बात को—जिस पर दशरथ का हवाई क़िला क़ायम था—पास तक नहीं फटकने दिया। देवासुर-संग्राम की वह बात उठाई कि जो 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' की तरह अच्छेद्य, अभेद्य थी। इस समय बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ दाँत पीसते रह गए और बड़े-बड़े धार्मिक लोग मुँह बाए ताकते रह गए। मैदान मन्थरा के हाथ रहा।

यह तो सब कुछ हुआ, परन्तु राम की नीति का भी यहाँ से रूप बदल गया। उनको राज्य देनेवाली एक शक्ति (राजा दशरथ) व्यर्थ कर दी गई। वह इस अवस्था के लिये भी तयार थे। वह जानते थे कि कैकेयी के प्रभाव में पड़कर यदि दशरथ उनके प्रतिकूल पड़े, तो क्या करना होगा। इस अवसर के लिये उन्होंने बड़े भयानक अस्त्र रख छोड़े थे। आज राम ने विरोधियों को अपना स्वरूप दिखाया, जिससे उनके कलेजे दहल गए, उनकी सारी हिम्मत पस्त हो गई। आप ज़रा राजनीतिक दृष्टि से काम लीजिए, तो आपको भी वे सब अस्त्र दीख पड़ेंगे।

यह कहा जा चुका है कि यद्यपि राजा और प्रजा, दोनो मिलकर नए राजा का चुनाव करते थे, परन्तु राजा की सम्मति उसमें प्रधान रहती थी। यदि यह न होता, तो कैकेयी के विवाह में की हुई दशरथ की प्रतिज्ञा का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। अब राम की ओर ध्यान दीजिए। उनको राज्य देनेवाली प्रबल शक्ति आज उनके हाथ से निकल गई। रह गई केवल प्रजा, वह राजा के विरुद्ध राज्य दे नहीं सकती। फिर राम अपना जन्मसिद्ध अधिकार पाएँ तो कैसे? यदि केवल दशरथ की पुरानी प्रतिज्ञा की बात होती, तो रास्ता कुछ सीधा था, परन्तु देवासुर-संग्राम की बात ने तो मामला ही उलट दिया। राजा दशरथ हृदय से राम के पक्षपाती होने पर भी आज उनके अनुकूल ज़बान नहीं हिला सकते। इस प्रकार प्रधान शक्ति राम के विपरीत पड़ गई है। इस दशा में राम को एक ही मार्ग था। एक तो प्रजा की अनु-

कूलता और दूसरे अपने विरोधी का राज्य चलाना असंभव कर देना, उसे राज्य करने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर देना, उसके अंतःकरण में यह विश्वास करा देना कि राम के विरुद्ध होकर उसका राज्य सम्हाल लेना किसी प्रकार संभव नहीं है।

भरत के हृदय पर राम के प्रेम की अखंड छाप थी। वह राम को पिता के समान समझते थे। उनका प्रेम अचल था, उनकी भक्ति अटूट थी। राम को भी भरत से कम प्रेम नहीं था, परन्तु राम की बातचीत से अनेक स्थानों में राजनीतिक ढंग प्रकट होता है, लेकिन भरत का चरित्र तो आदि से अन्त तक निर्व्याज और निरुपाधिक प्रेम का भण्डार है। भरत के चरित्र में राजनीतिक बातें ढूँढ़ना उसे कलुषित करना है। उनका चरित्र गङ्गा की धारा के समान स्वच्छ और शीतल है। जिस प्रकार भक्त भगवान् को ही चाहता है, उसे उनकी नीति-रीति से कुछ मतलब नहीं रहता, उसी प्रकार भरत को राम से ही प्रयोजन था, वह उन्हीं के अनन्य उपासक थे, राम की नीति आदि से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। भरत के निर्मल प्रेम का दूसरा दृष्टान्त इतिहास में नहीं है।

यही भरत का प्रेम राम का एक प्रधान अस्त्र था। धर्मात्मा भरत को स्वार्थ छू तक नहीं गया था। उनके नाना-मामा या माता ने जो चक्र रचा था, उसे भरत ने एक साँस में तोड़ दिया। राज्य पर राम का ही धर्मानुसार अधिकार है, राज्य चलाने की क्षमता राम में ही है, मैं उनका दास बनकर ही सुखी रह सकता

हूँ, ये भरत के भाव थे और इन्हीं ने राम के विरोधियों के छक्के छुड़ा दिए। राम का विरोध करनेवाली अपनी मा को जो उन्होंने कड़ी फटकार बताई है, वह उनके सच्चे हृदय का जीता-जागता चित्र है। जब राम को भरत के हृदय पर इतना गम्भीर अधिकार प्राप्त है, तब फिर किसका सामर्थ्य है, जो उनके राज्याधिकार को हथिया सके? यदि राम ने वन जाने में ज़रा भी कोर-कसर की होती, यदि पिता के अनुरोध के अनुसार कहीं वह घर में हलुवा-पूरी उड़ाने के लिये एक दिन रुक जाते, या पिता के कथनानुसार कुछ रुपया-पैसा लेकर वन गए होते, तो उनका यह अस्त्र उतना ही कुण्ठित हो जाता। राम का अकिञ्चन रूप में चीर-जटा-धारण करके वन जाना भरत के हृदय पर वज्राघात के समान हुआ। गङ्गा के किनारे कुश और पत्तों की शय्या पर रात काटना एवं केवल जल पीकर तीनों—राम, लक्ष्मण, सीता—का उस दिन रह जाना सुनकर भरत का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। उस समय उनका भक्तिमय प्रेम सहस्र धारा की तरह फूट निकला, समुद्र की तरह उमड़ उठा। केवल भरत का ही नहीं, राम के साथ जानेवाली आबालवृद्ध जनता का भी यही हाल हुआ था। ऋषियों से लेकर निषाद तक इस घटना को देखकर मर्मान्तिक वेदना से व्यथित थे। यदि कहीं राम दशरथ की बात—'तर्पितः सर्वकामैश्च श्वः काल्ये साधयिष्यसि'—मान लेते, यदि वह तोशक-तकिए लेकर गए होते, यदि उन्होंने अपने साथ दही और मालपुओं का पिटारा भी बँधवाया होता, और गङ्गा के किनारे

मसनद के सहारे बैठकर लोगों के सामने चबा-चबाकर मालपुए उड़ाए होते, तो आप ही बताइए कि देखनेवालों पर क्या प्रभाव पड़ता ? भरत के हृदय पर क्या असर होता ? क्या उस दशा में राम के इस ब्रह्मास्त्र में कुछ भी शक्ति बाक़ी रह जाती ? यदि वह एक दिन भी अयोध्या में रुक गए होते, तो उनका यह अमोघ अस्त्र बेकार हो जाता, इसीलिये तो उन्होंने कहा था कि—

'प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति'

राम को वन जाते समय ख़ज़ाना देने की बात दशरथ के मुँह से सुनकर जब कैकेयी घबरा उठी थी और उसने कहा था कि विना ख़ज़ाने का राज्य लेकर मेरा लड़का क्या करेगा, तब राम ने स्वयं धन लेने से इनकार किया था। वे मन में अवश्य समझते थे कि जब तुम्हारे लड़के का हृदय मेरी मुट्ठी में है, तो तुम विना हृदय का लड़का लेकर ही क्या करोगी ! जो कुछ तुमने किया है, उसका तमाशा तुम्हारा लड़का ही तुम्हें दिखा-एगा और कुछ दिखाएगी यह प्रजा, जिसके ऊपर राज्य करने की तुम्हें प्रबल इच्छा है।

इस राजनीतिक युद्ध में कैकेयी और उसके पिता आदि को दशरथ की प्रतिज्ञा तथा वरदानों का बल था। दशरथ को विवश होकर इन लोगों के पक्ष में रहना ही पड़ेगा, इसलिये राम को इसके परिहार के लिये कोई उपाय सोचना था। उन्होंने या उनके अद्भुत गुणों ने प्रजा को अपनाया, परन्तु यह पक्ष दुर्बल था। राजा के विरुद्ध प्रजा राम को राज्य नहीं दे सकती थी, अतः

उन्होंने भरत को अपनाया। राम के धार्मिक भावों, धार्मिक आचरणों और प्रेम-पूर्ण व्यवहारों से भरत इतने प्रभावित थे कि हज़ार-हज़ार हिलाने पर भी वह धर्म-मार्ग से न हटे। अब राम का पक्ष पूर्ण प्रबल हो गया। अब कैकेयी का तमाम पक्ष कुछ नहीं कर सकता था। जब भरत को राज्य स्वीकार ही नहीं, तो ये सब लाख-लाख सर पटका करें, कर क्या सकते हैं? मन्थरा को 'क्षुद्रजन्तु' समझकर राम ने कभी उसकी पर्वाह नहीं की।

सीता के साथ जाने से राम-वनवास का दृश्य अत्यन्त करुणा-पूर्ण हो गया था। यदि सीताजी साथ न गई होतीं, तो जनता—ख़ासकर स्त्री-समुदाय—पर इतना गहरा प्रभाव न पड़ता। यह बात रामायण का यह प्रकरण देखने से ही साफ़ समझ में आ जाती है। राम ने पहले तो सीता को समझा-बुझाकर—वनवास की विपत्तियों का भयानक चित्र दिखाकर—रोकना चाहा था; परन्तु जब वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं, तो उन्होंने साफ़ कह दिया था कि मैं भी तुम्हें साथ ले जाना चाहता था, लेकिन तुम्हारे मन की बात को पूरी तरह जाने बिना कोई काम करना कठिन था। अब सोचना यह है कि राम सीता को साथ ले जाना क्यों चाहते थे? वन में कोई ऐशोआराम का तो सामान था नहीं। वहाँ तो ऋषियों के समान ब्रह्मचारी बनकर रहना था। यदि ऐसा न होता और वन में कहीं सीता के सन्तान हो गई होती, तब तो इस राजनीति का सारा रंग ही फीका पड़ जाता। बात

ही उलट जाती। वन जाने का आग्रह करते समय, सीता ने स्वयं राम से कहा था कि मैं ब्रह्मचारिणी होकर तुम्हारे साथ रहूँगी—

'अहं शुश्रूषमाणा ते नियता ब्रह्मचारिणी ;
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु' ।

हाँ, सीता के साथ रहने से राम का मन-बहलाव अवश्य हो सकता था। परन्तु क्या उन्होंने यह काम केवल अपने मन-बहलाव के लिये किया था ? राजनीतिक दृष्टि इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती। फिर यदि ऐसा ही था, तो कौशल्या को साथ ले जाने से उन्होंने क्यों इनकार किया ? उनके साथ रहने से तो और भी अधिक मनोरञ्जन होता। कौसल्या जब किसी तरह न मानी, तब राम ने असली बात—राजनीतिक दृष्टि—से उनका समाधान किया और वह मान गईं। जब राम ने यह कहा कि राजा दशरथ कैकेयी के द्वारा वञ्चित हुए हैं, उनके हृदय पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा, वे आज ही कैकेयी का परित्याग करेंगे। उस समय वे तुम्हारे ही पास आश्रय पा सकेंगे। धार्मिक और राजनीतिक, दोनो दृष्टियों से यह अवसर बड़े महत्त्व का है। विपत्ति के समय राजा की सेवा-शुश्रूषा का तुम्हें धार्मिक अवसर मिलेगा और कैकेयी की नीति का नग्न चित्र भी इसी के द्वारा लोगों के सामने आ जायगा। उसका घोर स्वार्थ फूट निकलेगा। पति और पुत्र का त्याग करके केवल पैसे को अपनानेवाली कैकेयी के ऊपर से जनता का विश्वास उठ जायगा। जनता एकदम उसकी विरोधी—बल्कि विद्रोही—हो जायगी। उस दशा में न कैकेयी

के सम्हाले राज्य की बागडोर सम्हल सकेगी, न भरत के। तभी उसे आटे-दाल का भाव मालूम पड़ेगा। यही तो राम की नीति की भीतरी तह का रहस्य है। जो काम सीता के वन जाने से हुआ, वही कौशल्या के न-जाने से हुआ। जाना और न-जाना, ये दोनो काम परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु उक्त अवसर पर इन दोनो ने मिलकर एक ही नीति को पुष्ट किया। सीता के वन जाने से कैकेयी के पाषाण-हृदय का परिचय मिला और प्रजा उससे भयभीत होने लगी एवं अपने पुत्र को वनवास देनेवाले और सदा अपना तिरस्कार करनेवाले राजा का मरते समय साथ देने से कौशल्या पर प्रजा का प्रेम और भक्ति भो बढ़ी। जिससे भरत का राज्य करना और भी असम्भव हो गया। राम की पैनी राजनीतिक दृष्टि आगे आनेवाली इन घटनाओं को पहले से ही देख रही थी। वन में जाकर लक्ष्मण से बातचोत करते हुए उन्होंने इसका इशारा भी किया है।

प्रजा के भाव उस समय कैसे हो रहे थे, इसे ज़रा देखिए—

> यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ;
>
> कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी। २२।
>
> मिथ्या प्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ;
>
> भरते सन्निबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा। २८। अ०, ४८ सर्ग

राम को वन जाते देखकर प्रजा ने कहा था कि जिस कुल-कलङ्किनी कैकेयी ने राज्य के लोभ से पुत्र और पति का परित्याग किया है, वह किसी दूसरे को कब छोड़ेगी? इसने राम को सीता

और लक्ष्मण के साथ व्यर्थ ही वनवास दिया है और हम सबको ठीक उसी तरह भरत के हवाले कर दिया है, जैसे पशु क़साई के सिपुर्द कर दिए जायँ। देखा आपने ? राम के शांति-पूर्वक अकिंचन दशा में वन जाने के कारण भरत और कैकेयी के प्रति प्रजा के भाव कितने कड़वे हो गए हैं ?

यं यान्तमनुयातिस्म चतुरङ्गबलं महत् ;
तमेकं सीतया सार्धमनुयातिस्म लक्ष्मणः । ६ ।
ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामीनां चाकरो महान् ;
नेच्छत्येवाऽनृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् । ७ ।
या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ;
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः । ८ ।
उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ;
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् । १७ ।
समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ;
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः । १८ ।
रजसाऽभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ;
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च । १९ ।
अपेतोदकधूमानि हीनसंमार्जनानि च ;
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च । २० ।
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ;
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् । २१ । अयो०, ३३.

अर्थात्—जिन राम के पीछे चतुरङ्गिणी सेना चला करती

थी, आज उनके पीछे केवल सीता और लक्ष्मण जा रहे हैं। ऐश्वर्य और विषय-भोग के रसज्ञ होने पर भी, केवल धर्म के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिये, राम पिता की प्रतिज्ञा झूठी करना नहीं चाहते। जिस सीता को (राजमहलों के भीतर) आकाश-चारी जीव भी नहीं देख पाते थे, उसे आज रास्ता चलते लोग देख रहे हैं। कैकेयी राज्य की भूखी है, वह राज्य करे, अच्छी बात है। हम लोग राम के सुख में सुखी और उनके दुःख में दुःखी होंगे। हम सब अपने बाग़-बग़ीचे, खेत-खलिहान और घर-द्वार छोड़कर राम के साथ जायँगे। कैकेयी फिर उजड़े हुए घरों पर राज्य करे। हम अपना गड़ा धन खोदेंगे, घरों के अंदर-बाहर आँगनों और चबूतरों में बड़े-बड़े गड्ढे होंगे, काम की सब चीज़ें ले लेंगे। टूटे-फूटे, खोदे और उजड़े घरों में धूल उड़ेगी, देवता बिदा हो जायँगे, और चारो ओर चूहे डंड पेलेंगे। न कोई पानी छिड़केगा, न आग जलाएगा, न झाड़ू देगा। बलिवैश्व, यज्ञ-होम आदि की तो बात ही क्या? उस दशा में अकाल के से मारे, फूटे ठिकड़ों से भरे इन उजाड़ खंड-हरों में कैकेयी राज्य करेगी।

इस वर्णन से राम के प्रति प्रजा के भावों का अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस दशा में राम के विरोधी को राज्य करना कितना कठिन था। भरत यदि राज्य स्वीकार कर लेते, तो उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, यह बात भी समझ में आ जाती है। राम जिस नीति

पर काम कर रहे थे, यह उसी का एक फल था। राम ने जितनी-जितनी धर्मनिष्ठा दिखाई, जितनी-जितनी भरत की प्रशंसा करके प्रजा को उनके अधीन रहने का आदेश दिया, उतना-ही-उतना प्रजा का हृदय राम में अनुरक्त हुआ। उन्होंने जितना-जितना कैकेयी को अच्छा कहा, उतना-ही-उतना लोग उससे घृणा करने लगे। राम-जैसे धर्मात्मा के ऊपर कैकेयी ने इतना कुटिल क्रूर प्रहार किया, यह बात ध्यान में आते ही लोग उसे राक्षसी समझने लगते थे। भरत जब राम को वन से लौटाने के लिये चित्रकूट गए और राम ने सब माताओं के समान ही आदर से कैकेयी के पैर छुए, तो वह लज्जा और सङ्कोच से पृथ्वी में धसने लगी। भरद्वाज से सब माताओं का परिचय कराते समय जब भरत ने कैकेयी के सम्बन्ध में कहा था कि जिसके कारण राम-लक्ष्मण-जैसे पुरुषसिंह प्राण संकट में पड़े हैं, जिसके कारण पुत्र के वियोग में राजा दशरथ ने प्राण गँवाए हैं, वही यह क्रोधान्ध मूर्ख और घमण्ड-भरी कैकेयी मेरी माता है। सौभाग्य-मानिनी, ऐश्वर्य की भूखी, आर्यरूपधारिणी अनार्या, पापिनी और नृशंस यही मेरी मा है, जिसके कारण मेरे ऊपर यह विपत्तियों का पहाड़ फट पड़ा है। भरत के मुँह से ऋषि भरद्वाज के सामने ये वचन सुनकर कैकेयी का क्या हाल हुआ होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। कैकेयी के सम्बन्ध में यदि राम ने करोड़ों क्रूर शब्द कहे होते, तो भी उसे इतना कठोर दण्ड न मिलता, जितना उनके सद्व्यवहार के कारण उसे भोगना पड़ा।

यह बात नहीं है कि राम इतने मूर्ख थे कि कैकेयी की बुराइयों को समझते ही नहीं थे। वह उसके अल्हड़पन को अवश्य जानते थे, परन्तु सब लोगों के सामने धर्म एवं राजनीति के कारण उनका कभी नाम न लेते थे। एकान्त में लक्ष्मण से बात करते हुए उन्होंने एक बार कहा था—

अयोध्यामित एव त्वं काल्ये प्रविश लक्ष्मण। १६।
अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान्। १७।
क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्;
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्। १८। अयो०, ५३ सर्ग

अर्थात् कैकेयी क्षुद्र है, वह द्वेष के कारण मेरी और तुम्हारी माता को शायद विष देकर मार डाले, अतः हे लक्ष्मण तुम यहीं से अयोध्या लौट जाओ। मैं अकेला सीता के साथ वन चला जाऊँगा।

कई कवियों ने कल्पना की है कि राम, रावण का वध करने के लिये वन जाना चाहते थे, परन्तु पिता उन्हें जाने देंगे, इसमें सन्देह था, अतः उन्होंने कैकेयी के साथ गुप्त मन्त्रणा करके आपस में यह तय किया कि तुम (कैकेयी) पिता से वरदान माँगकर हमें वन में भिजवा दो और कैकेयी ने राम की यह बात मानकर उन्हीं की इच्छा के अनुसार उन्हें वनवास दिलाया। यह भक्तों की बात हो सकती है। राजनीतिक विचार में इस प्रकार की मनगढ़न्तों का कोई मूल्य नहीं। युक्ति और तर्क के बल पर विचार करने से इस मत की असारता स्वयं समझ में आ जायगी। राम किस नीति से काम करते थे, उसका वर्णन स्वयं उन्हीं के मुँह से सुनिए—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
　　समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे ;
　　भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा । ५७ ।
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा ;
　　धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके ;
　　कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता । ५८ ।
यशो ह्यहं केवलराज्यकारणात् ;
　　न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् । ६३ । अयो०, २१ सर्ग

वनवास के समय लक्ष्मण ने जब राम को अपना मत सुनाया और कौशल्या ने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिलाई, तब राम ने उन्हें अपनी नीति का दिग्दर्शन कराया था। जिस नीति के कारण राम का नाम अमर हो गया, जिसके कारण आज भी 'राम-राज्य' का उच्चारण प्रेम और पवित्रता के साथ किया जाता है, उस नीति की चर्चा स्वयं राम ने इन पद्यों में की है। इनका तात्पर्य है कि लोक में धर्म, अर्थ, काम ये ही अभ्युदय के साधन हैं। (अर्थ और काम ये धर्म के साध्य हैं) जिस नीति का अवलम्बन करने से ये तीनों सिद्ध होते हों, वह मुझे (राम को) सबसे अधिक प्रिय है। उसे मैं वशवर्ती प्रेम-पगी पुत्रवती भार्या के समान प्यार करता हूँ। और जिस नीति के अवलम्बन में ये सब एक न होकर अलग-अलग हों अर्थात् यदि कोई नीति ऐसी हो कि

जिसका एक पक्ष लेने से धर्म तो होता हो, परंतु अर्थ, काम बिगड़ते हों, दूसरा लेने में अर्थ बनता हो, लेकिन धर्म और काम ख़राब होते हों एवं तीसरे पक्ष में काम तो बनता हो, मगर धर्म-अर्थ चौपट होते हों, तो उस दशा में मैं (राम) उसी पक्ष का अवलम्बन करूँगा, जिसमें धर्म बनता हो ; क्योंकि अर्थ-पिशाच (पैसे के पीछे प्राण देनेवाले) से लोग द्वेष करने लगते हैं और अतिकामुकता से भी अपयश होता है। केवल राज्य के लिये मैं परम अभ्युदय के साधक यश की ओर से मुँह मोड़ना नहीं चाहता। यही राम की परम पवित्र नीति है, जिसके कारण राम जगत् के पूज्य हुए हैं।

वनवास के समय कैकेयी राम की विरोधी थी और दशरथ भी उसके वशवर्ती होने से एक प्रकार विरुद्ध कोटि में ही थे, परन्तु इन दोनों ने जिस नीति का अवलम्बन किया था, उससे सिद्ध क्या हुआ ? दशरथ का कामीपन—स्त्री के वशवर्ती होकर पुत्र को अधिकार भ्रष्ट करना—सिद्ध हुआ, जिससे उस समय प्रजा में उनका अपयश हुआ और कैकेयी की अर्थ-परता (या अर्थ-पिशाचता) सिद्ध हुई, जिससे वह जनता के द्वेष का पात्र बन गई। राम ने पिता की आज्ञा पालनरूप धर्म का आश्रय लिया। इसका जो कुछ फल हुआ, वह सभी जानते हैं। कैकेयी ने जितनी-जितनी अर्थ-परता दिखाई, उतनी-ही-उतनी लोगों में उसके प्रति घृणा बढ़ती गई। राम को उसी दिन वन में भेजना, बिना किसी सरोसामान के उन्हें रवाना करना, सीता को भी

तापसियों का-सा वेष दिलाना, १४ वर्ष तक राम को जटा-चीरधारी बनवाना आदि सब ऐसी ही बातें हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह अपना राज्य (या अर्थ) सिद्ध करने के लिये विरोधी को सब तरह निकम्मा कर डालना चाहती थी। यही बात उसे लोक-विद्विष्ट बना देने का अमोघ अस्त्र हुई। यदि राम ने इस समय ज़रा भी अर्थ-परता दिखाई होती, तो उतनी ही उनकी नीति—जिसने उन्हें अन्त में विजयी बनाया—लँगड़ी हो जाती। वह इतने बड़े राजनीतिज्ञ होकर ऐसी भूल कैसे कर सकते थे ? जितनी-जितनी कैकेयी की क्रूरता बढ़ रही थी, उतनी-ही-उतनी उसकी नीति की जड़ खोखली हो रही थी और राम की नीति विजय पा रही थी। राम इसकी उपेक्षा कैसे करते ? वह दशरथ की बात मानकर यदि एक दिन और अयोध्या में रह जाते या कुछ सामान सङ्ग लेकर जाते, तो क्या उनकी अर्थ-परता सिद्ध न होती ? जिस अस्त्र से वह अपने विरोधी को पछाड़ रहे थे, क्या उसी का प्रयोग अपने ऊपर होने देते ?

(लक्ष्मण की नीति)

अब इसी जगह लगे हाथों ज़रा लक्ष्मण की नीति का भी निरीक्षण करते चलिए। यह महापुरुष थे, अतुल बलशाली थे, दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता थे, साहसी थे, धीर और वीर थे। धैर्य में तो यह राम से भी बढ़ कर थे। अनेक अवसरों पर राम के धैर्य-च्युत होने पर इन्होंने धीरज बँधाया है। विपत्ति में विचलित होना तो यह जानते ही न थे। राम को विपत्ति पड़ने पर अनेक

बार लोगों ने रोते और अधीर होते देखा होगा, परन्तु लक्ष्मण को इस प्रकार धैर्य-च्युत होते बहुत कम देखा होगा। राम के तो यह अनन्य भक्त थे। यदि यह कहा जाय कि राम के आगे यह संसार में किसी को—यहाँ तक कि पिता-माता-भ्राता को भी—कुछ नहीं समझते थे, तो अत्युक्ति नहीं। यह राम के लिये सब कुछ करने को तयार थे। यह सब तो था, परन्तु इनमें एक बात की कमी थी। राजनीतिक दूरदर्शिता इनमें बहुत कम थी। यह वीर थे, राजनीतिज्ञ नहीं। सिपाही थे, सेनापति थे, पर राजा या राजनीतिक नहीं थे। राजनीतिक कुटिल चालों की आँधी चलने पर जब लक्ष्मण काग़ज़ के पुलिन्दे की तरह बिखरने लगते थे, तब राम इनके ऊपर पेपर-वेट (paper weight) का काम करते थे।

राम पिता से वनवास की आज्ञा पाकर जब कौशल्या के पास गए, तो लक्ष्मण भी वहीं थे। कौशल्या ने विलाप करते हुए राम के वन-गमन का विरोध किया। इस पर लक्ष्मण के भी ओष्ठ फरकने लगे। क्रोध से नेत्र लाल हो गए। वह बोले—

'न रोचते ममाप्येतदार्ये, यद्राघवो वनम्;
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशं गतः। २।
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः;
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः। ३।
तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः;
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन्। ७।

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ;
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् । ८ ।
मया पार्श्वे सधनुषा गुप्तस्य तव राघव ;
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः । ९ ।
निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ;
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये । १० ।
भरतस्याऽथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति ;
सर्वांस्तान् हि वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते । ११ ।
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या सन्तुष्टो यदि नः पिता ;
अमित्रभूतो निःसङ्गं बध्यतां बध्यतामपि । १२ ।
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ;
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् । १३ ।
अनुरक्तोस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ;
सत्येन धनुषा चैव सत्येनेष्टेन ते शपे । १६ ।
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ;
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय । १७ । अयो०, २१ सर्ग

लोकपालाः समस्तास्ते नाऽद्य रामाभिषेचनम् ;
नच कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता । २२ ।
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतोभव ;
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् । ३० ।
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ;
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः । ३१ ।

अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति ;

राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो । ३८। अयो०, २३ सर्ग

लक्ष्मण कौशल्या से कहते हैं कि माता, यह बात मुझे भी अच्छी नहीं लगती कि राम, स्त्री (कैकेयी) के कहने से राज्य छोड़कर वन चले जायँ। राजा हम लोगों के विरुद्ध हैं, वृद्ध हैं, विषयी और कामी हैं, वह स्त्री की प्रेरणा से क्या कुछ न कह देंगे ? राजा के ऊपर तो फिर से बचपन सवार हुआ है। उनकी ऊटपटाँग आज्ञा को राजनीति का मर्म समझनेवाला कौन पुत्र स्वीकार करेगा ? जब तक राजा की इस बात (वनवास की आज्ञा) को कोई नहीं जानता, तब तक हे राम, तुम शासन-सूत्र अपने क़ाबू में कर लो। जब मैं धनुष लेकर तुम्हारी रक्षा के लिये पास खड़ा हूँ, तो किसकी सामर्थ्य है,जो तुम्हारे आगे बढ़ सके ? यदि अयोध्यावासी हमारे विरुद्ध पड़े, तो मैं सम्पूर्ण अयोध्या को अपने पैने तीरों से मनुष्य-रहित कर दूँगा। भरत का पक्षपाती या उनका हितैषी जो कोई भी सामने आएगा, मैं उसका वध कर डालूँगा, 'सीधा मुँह बिल्लियाँ चाटती हैं'—'मृदुर्हि परिभूयते'—(कोमल प्रकृति पुरुष तिरस्कृत होता है) यदि पिता कैकेयी से सन्तुष्ट हैं, यदि उसी के प्रोत्साहन से हमें वनवास दे रहे हैं, तो निःसन्देह हमारे शत्रु हैं; ऐसी दशा में उन्हें या तो बाँध लेना चाहिए या मार देना चाहिए। गर्व में आकर यदि गुरु भी कार्याऽकार्य के विचार से हीन हो और पथ-भ्रष्ट हो जाय, तो उसे भी शिक्षा देनी चाहिए। हे माता मैं राम का हृदय से प्रेमी हूँ,

यदि राम अरण्य में या जलती हुई आग में प्रवेश करेंगे, तो तुम पहले मुझे वहाँ पहुँचा हुआ समझो। हे राम, आज समस्त लोकपालों का यह सामर्थ्य नहीं है कि तुम्हारे अभिषेक को रोक सकें, तीनो लोकों में यह दम नहीं है कि तुम्हारे विरुद्ध खड़े हो सकें, फिर अकेले पिता को क्या हिम्मत है, जो तुहारा राज्य छीन कर किसी दूसरे को दे सकें। तुम अपने अभिषेक के काम में लग जाओ, इन सब राजाओं को बल-पूर्वक नीचा दिखाने के लिये मैं अकेला काफ़ी हूँ। मेरे ये भुज-दण्ड केवल शोभा दिखाने के लिये नहीं हैं। मेरा धनुष, भूषण की तरह धारण करने के लिये नहीं है। यह मेरा खड्ग ख़ाली कमर में लटकाने के काम का नहीं है और न ये बाण सिर्फ़ टेक कर सहारा लेने के लिये रक्खे हैं। आज मेरे अस्त्रों का प्रभाव चमकेगा।

देखा आपने? लक्ष्मण की फड़कीली और ओज-भरी बातें सुनकर एकबार मुर्दों में भी जान पड़ सकती है। परन्तु क्या राम ने इनकी बात मानी? नहीं। क्यों? इसीलिये कि राम की नीति से लक्ष्मण की सलाह मेल नहीं खाती। राम की नीति का दिग्दर्शन हो चुका है। लक्ष्मण की नीति को हम 'सिपाही-नीति, या लट्ठ-नीति' कह सकते हैं। अन्यत्र भी अनेक जगह इन्होंने इसी प्रकार की बातें कही हैं। राम ने जब वन जाने से लक्ष्मण को रोकते हुए यह कहा था कि राजा काम-वश हैं और भरत राज्य पाने पर कैकेयी के वश में होकर कौशल्या, सुमित्रा आदि की कुछ पर्वाह न करेंगे, उस समय

भी लक्ष्मण ने कहा था कि यदि भरत ऐसा करेंगे, तो मैं उन्हें मार डालूँगा।

सकामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः । १२ ।

'न स्मरिष्यति कौशल्यां सुमित्रां वा सुदुःखिताम् ;

भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः' । १४ ।

'यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् । २० ।

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः' । २१ । अयो०, ३१

लक्ष्मण की बातों में फ़ौजीपन है, वे एक सिपाही की बातें हैं, (शत्रुघ्न का स्वभाव भी लक्ष्मण से ही मिलता-जुलता है, आख़िर दोनो सगे भाई हैं) लेकिन इनमें वह राजनीतिक दूरदर्शिता और धार्मिकता कहाँ, जो राम की नीति की जीवन-मूरि है। राम यदि लक्ष्मण की सलाह के अनुसार काम करते, तो फल क्या होता ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य उनके हाथ उसी समय आ जाता। कैकेयी का पक्षपाती और राम का विरोधी यदि कोई होता, तो निःसन्देह उसी समय लक्ष्मण के हाथ से तलवार के घाट उतार दिया जाता, परन्तु उस दशा में मिला राज्य 'राम-राज्य' न कहाता। आज 'राम-राज्य' का नाम सुनते ही जिस प्रजा-प्रेम और धार्मिकता का पवित्र भाव हृदय में उमड़ने लगता है, वह लक्ष्मण की नीति में हवा हो जाता।

यदि लक्ष्मण की बात मानते तो राम मारते किसे ? दशरथ को, आए हुए राजाओं को, प्रजा को, भाई भरत को, और बक़ौल लक्ष्मण के, कैकेयी को भी ! और यह सब हत्याकाण्ड होता किस

लिये ? राज्य पाने के लिये । इस पितृघातक, बन्धुघातक और प्रजाघातक राज्य का नाम क्या होता ? क्या राम-राज्य ? कदापि नहीं । यह राज्य प्रजा के शरीर पर हो सकता था, हृदय पर नहीं । इसमें लोग राम को राज्यसिंहासन पर बैठा देखकर भय-भीत हो सकते थे, परन्तु वन जाते समय उनके वियोग से विकल आबालवृद्ध प्रजा का अश्रुपात करते हुए अनुगमन करना और उससे जिस हार्दिक प्रेम का परिचय मिला था, वह सब काफ़ूर हो जाता । उस दशा का राज्य भय का राज्य होता, प्रेम का नहीं, और भय के राज्य में 'राम-राज्य' का भाव नहीं टिक सकता था ।

यदि राम ने उक्त प्रकार से राज्य पर अधिकार किया होता, तो उनको भी 'अर्थ-परता' सिद्ध होती । जिस 'अर्थ-परता' के कारण कैकेयी की वह दशा हुई, वही राम के सिर पड़ती ! राम ने तो अपनी नीति में साफ़ कहा है कि 'द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके' फिर यदि वह यहां अर्थ-परता दिखाते, तो प्रजा के द्वेष्य क्यों न होते ? लक्ष्मण को बात मानकर वह अपनी नीति के विरुद्ध कार्य कैसे करते ? उनके सदृश दूरदर्शी राजनीतिज्ञ प्रजा के हृदय का अधिकार छोड़कर केवल उसके शरीर पर अधिकार पाकर कैसे सन्तुष्ट होता ?

और फिर यह तो बताइए कि राम दशरथ को, प्रजा को और भाई भरत को मारते क्यों ? वे इनके सामने लट्ठ लेकर क्यों खड़े होते ? क्या ये सब उनके विरोधी थे ? दशरथ ने तो राम के राज्याभिषेक के लिये ही भरत को बाहर भेजा था । इसीके लिये

उद्योग करने के कारण तो कैकेयी के द्वारा उनके ऊपर यह विपत्तियों का पहाड़ टूटा था। फिर राम किस मुँह से इनके विरुद्ध अस्त्र-ग्रहण करते ? और भरत ? इनसे बढ़कर तो राम का कोई भक्त था ही नहीं। राम के लिये भरत ने जो अग्नि-परीक्षा दी, उसका तो इतिहास में जवाब ही नहीं है। क्या इन्हीं के विरुद्ध राम हाथ उठाते ? अब रही प्रजा, सो उसके हृदय की बात राम-वनवास के समय स्पष्ट हो चुकी है, फिर राम का विरोधी ही कौन था। जिसके ऊपर वह बन्दूक़ तानते ? राम तो इन सबके हृदय पर पहले ही अखण्ड राज्य प्राप्त कर चुके थे। वह इसे जानते भी थे। सच पूछिए, तो यह प्रजा-प्रेम ही तो उनका अमोघ अस्त्र था। इसी से उन्होंने कैकेयी और उसके सर-परस्तों को छकाया था। वह मर्यादापुरुषोत्तम थे। धर्म की मर्यादा बाँधने आए थे। तब क्या वे स्वयं उन मर्यादाओं का ध्वंस करते ? यही तो उनकी प्रथम परीक्षा थी। क्या इसी में वह फ़ेल होते ? उन्होंने यही तो दिखाया कि यदि अपना पिता ही किसी दुर्बलता के कारण स्वार्थियों की प्रेरणा से कोई अधर्म कर बैठा हो, यदि माता ही उसके कारण अपने विरुद्ध हो गई हो एवं अपना जन्म-सिद्ध अधिकार पाने में अपने भाई को ही धक्का पहुँचता हो, तो उस विकट परिस्थति में क्या करना चाहिए ? उस भयानक समस्या को कैसे सुलझाना चाहिए जिससे विरोधियों के भी छक्के छूट जायँ, माता-पिता की प्रतिष्ठा भी भङ्ग न हो, प्रजा भी पीड़ित न की जाय और भाई-भाई का प्रेम भी

अक्षुण्ण बना रहे, यही तो रामावतार के प्रयोजनों की प्रथम सीढ़ी है। यहीं से तो राम ने धर्म को मर्यादा बाँधने का 'श्रीगणेश' किया है। इन्हीं अलौकिक लीलाओं से तो हम उन्हें ईश्वर का अवतार और मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। आपका जो न चाहे, तो न सही। आप उन्हें केवल राजनीतिज्ञ ही मानिए। महा-पुरुष ही कहिए। परन्तु यह निश्चय है कि इस महापुरुष के जोड़ का दूसरा उदाहरण आप इतिहास में नहीं ढूँढ सकते। इसी अद्वितीयता का नाम ईश्वरत्व है। इसीलिये तो हम उन्हें ईश्वर का अंश कहते हैं। अब आपका जो जी चाहे, सो कहिए।

अच्छा, अब इन बातों को छोड़िए। यह सोचिए कि जब भरत ने वन में जाकर बड़ी मिन्नत-आरज़ू और ख़ुशामद-दरा-मद के साथ रो-रोकर राम से अयोध्या वापस चलने को कहा और राजगद्दी स्वीकार कर लेने की प्रार्थना की, तब उन्होंने उसे क्यों अस्वीकार कर दिया? कैकेयी और उसके पक्षपातियों का तो पूरा पराजय उसी समय हो चुका, जब भरत उनके हाथ से निकल गए। जब भरत सेवक और दास की तरह उन्हें पाँव पड़-कर मना रहे हैं, तब फिर कैकेयी के पक्षियों का क्या डर? यह कहा जा सकता है कि भरत उनसे छोटे थे और एक प्रकार से उनके प्रतिस्पर्धी भी थे। भरत के ही कारण राम का राज्य गया था। इन्हीं की राज्यप्राप्ति के लिये बरसों से कोशिश हो रही थी। राज्य राम को मिले या भरत को, इसी के ऊपर शतरंज की चालें चली जा रही थीं। ऐसी दशा में भरत राम के प्रतिद्वन्द्वी

थे। आज वे दया करके राम को अपना राज्य दे रहे थे। दशरथ तो कैकेयी के विवाह के समय ही भरत को राज्य दे चुके थे। कैकेयी ने वरदानों की माँग के द्वारा उसी बात को 'द्विर्बद्धं सुबद्धम्' किया था। इस दशा में भरत की दया ही उस समय राम को राज्य दिला रही थो। परन्तु राम मनस्वो थे, वीर थे, 'निगूढ़मानी' थे। वह अपने प्रतिपक्षी की दी हुई दया-भिक्षा को कैसे स्वीकार करते? उनका वीरोचित विशाल हृदय और क्षात्र तेज यह कब सहन कर सकता था? इसी कारण उस समय उन्होंने भरत की प्रार्थना स्वीकार नहीं की।

सम्भव है, यही बात रही हो, परन्तु हमारा जी इन तर्कों से भरता नहीं। यदि सचमुच यही बात थी, तो १४ वर्ष वनवास के बाद फिर राम ने राज्य कैसे स्वीकार किया? जो शब्द भरत ने चित्रकूट पर कहे थे, ठीक वैसे ही वन से राम के लौटने पर उन्होंने नन्दिग्राम में कहे थे। सुनिए—

'शिरस्यञ्जलिमाधाय कैकेयीनन्दिवर्धनः;
बभाषे भरतो ज्येष्ठं रामं सत्यपराक्रमम्। १।
पूजिता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम;
तद्ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम। २।
भरतस्य वचःश्रुत्वा रामः परपुरञ्जयः;
तथेति प्रतिजग्राह निषसादासने शुभे'। १२।

युद्धकांण्ड १३० सर्ग

भरत जो आज कह रहे हैं कि 'आपने (राम ने) मेरी मा

की ख़ातिर कर ली। जिस तरह आपने मुझे राज्य दिया, उसी तरह मैं आपको देता हूँ' यही तो आज से १४ वर्ष पहले उन्होंने चित्रकूट पर कहा था। तब राम न माने और आज मान गए। यदि प्रतिस्पर्धी की दी हुई चीज़ से ही घृणा थी, तो आज उसकी छूत कैसे छुट गई? जब उन्हें भरत की दया से दिया हुआ राज्य ही लेना था, तो उसी दिन क्यों न ले लिया? 'अन्ते रण्डा-विवाहश्चेदादावेव कुतो न सः।'

यह भी कहा जा सकता है कि राम के वनवास का प्रच्छन्न कारण देवताओं और ऋषियों द्वारा किया हुआ राक्षसों के वध का आयोजन था, जिसका सूत्रपात विश्वामित्र ने बहुत दिन पहले से कर रक्खा था। महर्षि भरद्वाज ने भी भरत को समझाते हुए यही कहा था कि तुम अपनी मा को दोष न दो, राम के वनवास का फल बहुत अच्छा होगा। यह उसी ओर इशारा था। अतः जब तक राम राक्षसों का वध न कर लेते, तब तक कैसे लौट सकते थे? वह तो जानते थे कि हमने अवतार इसी-लिये लिया है।

यह समाधान सत्य हो सकता है, परन्तु प्रकृतोपयोगी नहीं। हमें यहाँ राजनीतिक दृष्टि से ही विचार करना है, अतः उसी के अनुसार समाधान चाहिए। राम को सर्वज्ञ ईश्वर माननेवाले भक्तों का सन्तोष उक्त समाधान से भले ही हो जाय, परन्तु केवल राजनीतिक लोग इससे सन्तुष्ट न होंगे। जिन्होंने वनवास से पहले सीता के महल में राम को विषण्ण होते और अश्रुपात

करते देखा है, जिन्होंने वन में अनेक जगह उन्हें घबराते एवं कैकेयी को कोसते देखा है और देखा है सीता के वियोग में जा-बजा भटकते-बिलखते, वे सहसा यह कैसे मान लेंगे कि राम को भविष्य की सब बातें पहले से ही मालूम थीं और उसी प्रोग्राम के अनुसार वह वन जा रहे थे।

यह भी कोई कह सकता है कि जब पिता ने उन्हें १४ वर्ष का वनवास दिया था, तब धर्मात्मा राम इस समय उसमें 'ननुन च' कैसे कर सकते थे? पिता की आज्ञा को वे सर्वोपरि समझते थे। परन्तु हम यह दिखा चुके हैं कि राम पिता की आज्ञा का पालन आँख मीचकर कभी नहीं करते थे। वह उस पर राज-नीतिक दृष्टि से विचार करके (और धार्मिक दृष्टि से भी) तभी उसे स्वीकार करते थे। पिता ने १४ वर्ष के लिये राम का वन-वास और भरत का राज्य साथ ही स्वीकार किया था, परन्तु जब भरत राज्य लेते ही नहीं, तब पूर्वोक्त आज्ञा की एक टाँग तो टूट ही गई। अब राम के वनवास से ही क्या लाभ होगा? कैकेयी और उसकी राजनीतिक गुरु—मन्थरा ने इसीलिये राम को १४ वर्ष तक वन में भेजना चाहा था कि इतने दिनों में भरत प्रकृति-मण्डल और प्रजा को क़ाबू में करके अपने राज्य की जड़ जमा लेंगे और फिर वह राम या किसी और के हिलाए न हिल सकेगी।

'चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्;
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति'।

यही तो राम के वनवास का रहस्य था। सो जब भरत राज्य

लेना स्वीकार ही नहीं करते, तब तो फिर राम-वनवास की जड़ ह कट गई। राम ने इस बात पर ध्यान क्यों नहीं दिया ? उनका-जैसा दूरदर्शी राजनीति-निष्णात पुरुष इस बात को समझ न सका हो, यह तो सम्भव नहीं। क्या इसमें भी कोई राजनीतिक रहस्य था ? हाँ, अवश्य था। सुनिए, राम की नीति तो आप जान ही चुके हैं। घर में ही यदि धर्म की मर्यादा बिगड़ रही हो, तो उसे लक्ष्मण की तरह डण्डेबाज़ी करके हटाने की नीति राम की नहीं थी। एक अधर्म हटाने के लिये दूसरा अधर्म करना वह पसन्द नहीं करते थे। युद्ध बाहर के शत्रुओं के साथ और शान्ति तथा त्याग की नीति घर में बर्तना ही तो राम का लक्ष्य था। 'द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके' का यही तो रहस्य है। प्रजा का प्रेम और भरत की भक्ति ही राम का ब्रह्मास्त्र थे। इन्ही के द्वारा उन्होंने अपने विरोधियों पर विजय पाई थी। वन जाते समय राम ने सोने के कलशों में रक्खे हुए जल को नहीं छुआ, बल्कि अपने हाथ से पानी भरके वनवास-व्रत की दीक्षा ग्रहण की। राम-जैसे महाराज-कुमार को स्वयं जल भरके तापसचर्या ग्रहण करते देख प्रजा के हृदय में कैसे-कैसे भाव उदय हुए होंगे, राम के इस अनुपम त्याग का क्या प्रभाव लोगों पर पड़ा होगा, जनता ने राम और उनके विरोधियों के सम्बन्ध में कैसी-कैसी धारणा की होगी, इसका विचार पाठक स्वयं करें।

'एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः ;
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति। २७।

अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु ;
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति'। २८। अयो०, २२ सर्ग

अच्छा तो प्रजा के प्रेम और भरत की भक्ति के बल पर राम अपना जन्म-सिद्ध अधिकार पाने का यत्न कर रहे थे। इसी से वह विरोधियों पर विजय पाना चाहते थे। अब सोचिए कि यदि वे चित्रकूट से भरत के साथ अयोध्या वापस लौट आते, तो उनकी विजय अधूरी रह जाती या नहीं ? जिन लोगों ने १४ वर्ष का वनवास माँगा था, वे क्या समझते थे ? यही न कि राम के यहाँ रहते हुए भरत का राज्य जमना कठिन है। लोग राम के भक्त हैं, वे भरत का आधिपत्य स्वीकार करने में आनाकानी करेंगे। यदि राम अयोध्या में रहे या थोड़े ही दिन बाहर रहकर लौट आए, तो काम बिगड़ जायगा। १४ वर्ष तक—इतनी दूर—दण्डकारण्य में रहें जहाँ से जनता को खबर भी न मिले। (रेल, तार या टेलीफ़ोन तो था नहीं) तब भरत का राज्य दृढ़ मूल हो सकेगा। आज राम चित्रकूट में हैं और लोग उनके वियोग में व्याकुल हैं। जनता में अपूर्व जोश है, परन्तु राम के विरोधी क्या सोच रहे हैं ? यही कि अभी घाव ताज़ा है। ज़रा मामला ठण्डा होते ही सब जोश-ख़रोश दब जायगा। बात पुरानी पड़ी कि लोगों के दिमाग़ दुरुस्त होने लगेंगे। इधर हम भी प्रजा को अपनाने की चेष्टा करेंगे। अभी तो हमें अपना सद्व्यवहार दिखाने का मौक़ा ही नहीं मिला है। ज़रा प्रजा हमारा सुप्रबन्ध और सत्कार्य देखे तो सही।

यह ठीक है कि भरत के विरोध के कारण राम के विरोधियों के हौसले कुछ पस्त होने लगे थे, परन्तु अभी तक वे लोग निराश नहीं हुए थे। वे समझते थे कि भरत अभी लड़का है। आगा-पीछा सोचने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। जो कुछ कर रहा है, वह उसके नए जोश का नतीजा है। यदि हमें इसे समझाने-बुझाने का काफ़ी मौक़ा मिला, तो ऊँच-नीच दिखाके हम इसकी बुद्धि ठीक कर लेंगे।

यह तो हुए विरोधियों के भाव, जिन्हें राम ख़ूब समझते थे। अब राम के मानसिक भावों को देखिए। वह पिता की आज्ञा से १४ वर्ष के वनवास की प्रतिज्ञा करके घर से चले हैं। यह अभी कल की बात है कि पिता के बहुत कुछ कहने पर भी उन्होंने अयोध्या में एक दिन भी रुकना उचित नहीं समझा। अब आज यदि राम घर लौट जायँ, तो उनकी धर्मनिष्ठा को धक्का लगेगा, जिसे वह कदापि सहन नहीं कर सकते। घर लौटने से अर्थ तो मिलेगा, परन्तु धर्म नहीं। राम अपनी नीति में साफ़ कह चुके हैं कि जहाँ धर्म, अर्थ, काम इन तीनो में विरोध हो, वहाँ मैं धर्म का पक्ष ग्रहण करता हूँ। फिर राम यदि लौट जायँ, तो प्रजा मन में क्या कहेगी ? वह प्रसन्न तो अवश्य होगी, परन्तु क्या राम को कट्टर धर्मात्मा भी कहेगी ? प्रत्यक्ष में चाहें कहे, परन्तु मन में तो नहीं कह सकती। और विरोधी ? वे भी पूरी तरह अपनी हार स्वीकार नहीं करेंगे, बल्कि प्रजा में प्रच्छन्न रूप से यही प्रचार करेंगे कि राम ने

पिता के सामने की हुई प्रतिज्ञा भङ्ग की। राज्य के लोभ से घर लौट आए। यदि न आते, तो हम लोग भरत को समझा-बुझाकर राज्य पर बिठा देते। इससे दशरथ की प्रतिज्ञा पूरी होती, परन्तु राम ने यह नहीं होने दिया। दशरथ की आत्मा परलोक में दुःख भोगेगी और राम-जैसे मिथ्याचारी पुत्र को कोसेगी इत्यादि। राम इन आनेवाली बातों को खूब समझते थे। वह इस समय राज्य ग्रहण करने को कुछ कलङ्क-युक्त समझते थे। फिर यह भी बिल्कुल ठीक था कि आज का राज्य उन्हें केवल भरत की दया से मिल रहा था। अभी तक यह सिद्ध नहीं हुआ था कि भरत राम के बिना राज्य नहीं कर सकेंगे। न यही सिद्ध हुआ था कि १४ वर्ष के बाद भी प्रजा राम की उतनी ही भक्त बनी रहेगी, जितनी आज है। अभी उनके विरोधियों ने पूरी तरह हार भी नहीं मानी थी। हाँ, यदि १४ वर्ष तक समझाने-बुझाने पर भी भरत न मानें, यदि इतनी अवधि में भी प्रजा राम-ही-राम रटती रहे, यदि राम के नाम से ही इतने दिनों राज्य में सुख-शान्ति रह सके, तब अलबत्ता राम की पूरी विजय होगी, उनकी धर्मनिष्ठा अक्षुण्ण रहेगी और विरोधियों को सिर उठाने का कोई मार्ग न रह जायगा। उस समय यदि राम राज्य स्वीकार करें, तो वह उनका अपना ही राज्य होगा, उसे भरत की दया से मिला हुआ राज्य कोई न कह सकेगा।

लेकिन क्या इस ज़रा-सी बात के लिये राम ने इतना बड़ा घोर कष्ट झेलना स्वीकार किया? प्रजा उनकी धर्मनिष्ठा को

बीस की जगह उन्नीस समझने लगेगी और कुछ लोग इस राज्य को भरत की दया से दिया हुआ कहने लगेंगे, बस सिर्फ़ इसी बात को दूर करने के लिये उन्होंने १४ वर्ष का घोर वनवास स्वीकार किया। कैकेयी और उसके भ्राता-पिता आदि को आशा है कि हम अब भी भरत को समझा लेंगे और प्रजा को क़ाबू में भी कर लेंगे, बस इतनी ज़रा-सी बात को मिटाने के लिये राम ने १४ वर्ष तक सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर घोर राक्षसों से भरे निर्जन वनों में भटकना स्वीकार किया? भरत उनके अनुकूल थे, प्रजा उनके अनुकूल थी, वसिष्ठ आदि महर्षि उनके पक्ष-पोषक थे, सेनापति और कोषाध्यक्ष उनके नाम पर जान देते थे, इस दशा में उन्होंने एक तुच्छ बात के लिये इतना कष्ट उठाना स्वीकार किया? यह कहाँ की बुद्धिमानी है? वह अपने विरोधियों को देश निकाला दे सकते थे। अधर्म की बात का पूर्वोक्त तर्क से समाधान कर सकते थे। वह कह सकते थे कि १४ वर्ष तक मेरा वनवास इसीलिये था कि इतने समय में भरत का राज्य-सूत्र दृढ़ हो जाय, परन्तु जब भाई भरत राज्य लेते ही नहीं, तो अब वह बात व्यर्थ हो गई। अब उसका पालन करना धर्म नहीं रहा। मैं भाई के प्रेम और भक्ति के कारण विवश हूँ। निहायत मजबूरी से राज्य ले रहा हूँ। मुझे इसकी कोई इच्छा नहीं है, मुझे राज्य लेने में ज़रा भी ख़ुशी नहीं है इत्यादि।

यदि राम आजकल के-से 'रंग-पलट्टू' राजनीतिक होते, तो

निःसन्देह इसी प्रकार की बातें बनाते। आजकल के राजनीतिक तो 'इस ज़रा-सी बात' के लिये इतने बड़े कष्टों के पहाड़ को अपने सिर ओढ़ना कभी पसन्द न करेंगे। वे इसे मूर्खता कहने में भी संकोच न करेंगे, परन्तु राम में यही तो ज़रा-सी बात थी, जिसने उन्हें 'राम' बनाया। यही बात थी, जिसने उन्हें अमर कीर्ति दी और 'राम-राज्य' का नाम अमर कर दिया। उन्होंने अपनी नीति बताते हुए कहा है कि मैं राज्य के निमित्त अपना यश कलुषित करना पसन्द नहीं करता। "यशो ह्यहं-केवलराज्यकारणात् न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम्' यश को कलुषित होने से बचाने के लिये अपने ऊपर बड़ी-से-बड़ी विपत्ति को आने देना ही तो राम की विशेषता है। इसी के कारण तो इतिहास में आज तक दूसरा 'राम' ढूँढे नहीं मिलता। यदि यह 'ज़रा-सी बात' न होती, तो आज तक अनेक 'ऐरा-ग़ैरा-नत्थू-ख़ैरा' राम के आसन पर उचक-उचक-कर बैठने की कोशिश करते दिखाई देते। इसी 'ज़रा-सी बात' ने तो राम का सिंहासन इतना ऊँचा कर दिया कि उसके पाए तक पहुँचना भी दूभर हो गया। राम चाहते थे कि भरत के नाना-मामा जी-भर के कोशिश कर देखें। जब वे १४ वर्ष के सतत परिश्रम से भी भरत को और प्रजा को न अपना सकें, तब सब प्रकार से उनकी हार होने पर राज्य स्वीकार किया जाय। दशरथ ने जो प्रतिज्ञा कैकेयी के विवाह में की थी और इन लोगों ने जिस स्वार्थ से प्रेरित होकर यह अधर्म कराया था, उसके

लिये जी-भरके यत्न कर लें । जब धर्म के आगे अधर्म सब तरह पछाड़ खा जाय, तब राम-राज्य की विजय समझनी चाहिए। यही तो 'राम-राज्य' की विशेषता है।

सम्भव है कुछ लोग विना पुष्ट प्रमाण मिले इस बात के मानने को तयार न हों । मुमकिन है कई भक्तों को पुरानी निरूढ़ भावना के विरुद्ध कही हुई यह बात खटके और अप्रामाणिक जचे। अच्छा तो थोड़ा-सा प्रमाण भी देख लीजिए। राम जब लङ्का-विजय करके पुष्पक विमान द्वारा दल-बल-सहित अयोध्या के पास पहुँचे, तो उनके मन में चिन्ता हुई। उन्होंने सब बानरों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर हनूमान् को चुना और उनसे कहा कि तुम बहुत शीघ्र अयोध्या जाओ और राजभवन में देखो कि सब लोग कुशल से तो हैं। पहले शृङ्गबेरपुर में जाना, वहाँ निषादराज गुह से मेरी कुशल कहना। मेरी कुशल सुनकर मित्र-वर गुह अवश्य प्रसन्न होंगे और तुम्हें अयोध्या का रास्ता बता देंगे। वहाँ से चलकर भरत के पास जाना। उनसे मेरी, सीता की और लक्ष्मण की कुशल कहना। अतिबलशाली रावण के द्वारा सीता का हरण, सुग्रीव का संवाद, बाली का वध, दसो दिशाओं में सीता की खोज, समुद्र-पार जाकर तुम्हारा (हनूमान् का) उन्हें देखना, समुद्र-तट पर वानर-सेना का पहुँचना, समुद्र का अपना स्वरूप दिखाना, उस पर पुल का बाँधा जाना, रावण का वध, इन्द्र, वरुण और ब्रह्मा का वरदान, महादेव की कृपा से पिता (दशरथ) का दर्शन, इन सब बातों को भरत

के आगे विस्तार से कहना और यह उन्हें बताना कि जिन महाबली मित्रों के साथ राम ने रावण को मारा था, उन्हीं राक्षसराज विभीषण, वानरराज सुग्रीव आदि अतुल बलशाली मित्रों को साथ लेकर और उत्तम यश पाकर राम अयोध्या के पास पहुँच गए हैं।

'अयोध्यां तु समालोक्य चिन्तयामास राघवः । १ ।
चिन्तयित्वा ततो दृष्टिं वानरेषु न्यपातयत् ;
उवाच धीमांस्तेजस्वी हनूमन्तं प्लवङ्गमम् । २ ।
अयोध्यां त्वरितो गत्वा शीघ्रं प्लवगसत्तम ;
जानीहि कच्चित्कुशली जनो नृपतिमन्दिरे । ३ ।
शृङ्गवेरपुरं गत्वा गुहं गहनगोचरम् ;
निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम । ४ ।
भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा । ५ ।
अयोध्यायाश्च ते मार्गं प्रवृत्तिं भरतस्य च ;
निवेदयिष्यति प्रीतो निषादाधिपतिर्गुहः । ६ ।
भरतस्तु त्वया वाच्यः कुशलं वचनान्मम ;
सिद्धार्थं शंस मां तस्मै सभार्यं सहलक्ष्मणम् । ७ ।
हरणं चापि वैदेह्या रावणेन बलीयसा ;
सुग्रीवेण च संवादं वालिनश्च वधं रणे । ८ ।
मैथिल्यन्वेषणं चैव यथाचाधिगता त्वया ;
लंघयित्वा महातोयमापगापतिमव्ययम् । ९ ।
उपयानं समुद्रस्य सागरस्य च दर्शनम् ;

यथा च कारितःसेतू रावणश्च यथाहतः । १० ।

वरदानं महेन्द्रेण ब्रह्मणा वरुणेन च ;

महादेवप्रसादेन पित्रा मम समागमम् । ११ ।

उपयातं च मां सौम्य भरताय निवेदय ;

सहराक्षसराजेन हरीणामीश्वरेण च । १२ ।

जित्वा शत्रुगणान् सर्वान् प्राप्य चानुत्तमं यशः ;

उपयाति समृद्धार्थः सहमित्रैर्महाबलैः । १३ । यु०, १२७ सर्ग

यह स्थल सूक्ष्मदृष्टि से देखने योग्य है । ख़ासकर यह अन्तिम वाक्य कि 'अतुल बलशाली राक्षसेन्द्र और वानरेन्द्र आदि मित्रों के साथ राम आ रहे हैं ।' हनूमान् को सिर्फ़ इतना कहना चाहिए था कि 'राम अयोध्या के पास पहुँच गए हैं ।' भरत तो राम के भक्त थे ही, वह तुरन्त तयार हो जाते और बाक़ी सब बातें—सीता-हरण, सुग्रीव-मिलन, रावण-वध आदि—राम ही स्वयं भरत को सुनाते । हनूमान् को यथाक्रम सब घटनाओं का विस्तृत वर्णन भरत के आगे पेश करने को क्यों कहा गया ? फिर एक बात और भी है । इस प्रकरण में जिन-जिन बातों को सुनाने के लिये राम ने आदेश दिया है, वे सब उनकी वीरता की ही सूचक हैं । राम जङ्गल में घूमते-घूमते बीसों जगह सीता के वियोग में रोए थे, कबन्ध के मुक़ाबिले में उनके हाथ-पैर फूलने लगे थे, बाली को उन्होंने छिपकर मारा था, 'रणे' (रण में) नहीं । लक्ष्मण को शक्ति लगी थी । और भी अनेक अवसर थे, जिनमें राम का पक्ष दुर्बल

पड़ा था। उनमें से यहाँ किसी का भूलकर भी नाम नहीं लिया गया। जब पूरी राम-कहानी ही सुनानी थी, तो ये बातें क्यों भुला दी गईं? या फिर हनूमान् के द्वारा संक्षिप्त सूचना भिजवाई होती। पूरी मिस्सिल सुनाने को क्यों कहा? फिर अयोध्या को (दूर से) देखकर राम ने 'चिन्ता' की, वानरों को बारीक नज़र से देखकर उनमें से हनूमान् ही को चुना, क्या ये सब बातें निःसार हैं? राम को उस समय क्या चिन्ता हुई? उन्होंने बारीक दृष्टि से वानरों में क्या देखा? और हनूमान् को ही किस नीयत से चुना?

हमें इन प्रश्नों का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। आप इसके आगे का अंश रामायण में ही देख लीजिए, बस सब समाधान हो जायगा। सुनिए—

'एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः ;
स च ते वेदितव्यः स्यात्सर्वं यच्चापि मां प्रति। १४।
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च ;
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च। १५।
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम् ;
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः। १६।
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत् ;
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः। १७।
तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर ;
यावन्न दूरं याताः स्मः क्षिप्रमागन्तुमर्हसि'। १८। युद्ध०, १२७ सर्ग

भरत के पास जाकर क्या-क्या कहना, यह बताने के बाद राम हनूमान् से कहते हैं कि यह सब हमारी विजय-कथा सुनने के बाद भरत का आकार जैसा मालूम पड़े, उसे ध्यान से देखना और भी मेरे प्रति जो कुछ भाव भरत के हों, उन्हें बड़े ग़ौर से देखना। ये सब बातें सुनाते समय उनके चेहरे के रंग-ढंग को बड़ी सावधानी से ताड़ते रहना। इसके सिवा और भी किसी प्रकार से अगर कुछ जान सको, तो वह भी करना। भरत की सब बातों को जाँच करना, उनकी सब चेष्टाओं और इशारों को ध्यान से परखना। उनकी बातचीत के ढंग से, उनके चेहरे के रंग से, उनकी नज़र से और गले के स्वर से जो कुछ समझ पड़े, वह सब तीव्र दृष्टि से जाँचना। सब सुखों से समृद्ध, हाथी, घोड़े, रथ आदि से पूर्ण पैतृक राज्य पाकर किसका मन विचलित नहीं होता? यदि 'संगति' के कारण भरत स्वयं राज्य चाहते हों, उसे छोड़ने को तयार न हों, तो वही राज्य करें। तुम उनकी बुद्धि और व्यवसाय (कार्य) का ठीक-ठीक पता लगाकर शीघ्र आओ, जब तक हम यहाँ से दूर—अयोध्या के पास तक—नहीं पहुँचें, तभी तक तुम यहाँ पहुँच जाओ।

देखा आपने? राम को सन्देह था कि 'संगति' के कारण शायद भरत राज्य का अधिकार छोड़ना न चाहें। वह यह बात अयोध्या पहुँचने से पहले ही जान लेना चाहते थे। यदि राजगद्दी न मिले, तो वह अयोध्या जाने को तयार न थे। भरत का पार्षद या सहकारी बनकर रहना उन्हें पसन्द नहीं था। यदि घर पहुँच

गए और भरत ने गद्दी न छोड़ी, तो बड़ा फ़जीता होगा। उस दशा में वहाँ से लौटने में लज्जित होना पड़ेगा, इसीलिये राम भरत का भीतरी भाव जानने को उत्सुक हैं। भरत पर उन्हें उतना सन्देह नहीं है—जितना उनकी 'संगति' पर। वह समझते हैं कि कुछ लोगों को 'संगति' में पड़कर शायद भरत इतने दिन—१४ वर्ष—बाद राज्य छोड़ना पसन्द न करें। इसीको वह जाँच कराना चाहते हैं। इस काम के लिये बड़े बुद्धिमान्, वाग्मी और सूक्ष्मदर्शी दूत (या गुप्तचर) की आवश्यकता है। इसी के छाँटने के लिये राम ने वानरों पर बारीक़ नज़र डाली थी। भरत जिन लोगों की संगति में पड़कर विरुद्ध हो सकते हैं, उन्हें भयभीत करने के लिये क्या-क्या सन्देश भेजने की आवश्यकता है, यही राम ने उस समय 'चिन्ता' करके सोचा था। अब यह सोचिए कि वे कौन लोग हो सकते हैं, जिनकी 'संगति' में पड़कर भरत राम के विरुद्ध हो जायँ? वे कौन हैं, जो आज भी भरत के साथ हो सकते हैं और उन्हें सिखा-पढ़ा सकते हैं? आप स्वयं बताइए। हम नाम न लेंगे। इन्हीं लोगों का हौसला पस्त करने के लिये—इन्हीं को पूरी तरह पराजित करने के लिये—तो राम ने चित्रकूट से अयोध्या लौट जाना उचित नहीं समझा था। इन्हीं को १४ वर्ष तक—अपना पूरा ज़ोर लगाने का अवसर राम ने दिया था। यदि अब तक—एँड़ी-चोटी का पसीना एक करने पर भी ये 'संगति' के साधक नाकामयाब रहे हों, भरत पर और प्रजा पर इनका जादू बेकार गया हो, तभी राम अपनी

सर्वाङ्गीण विजय समझेंगे। इसी बात के जाँचने के लिये आज उन्होंने सकल गुण सम्पन्न और सीता के अन्वेषण में दृष्ट-प्रत्यय हनूमान् को चुना है। और जो बातें भरत के सामने पेश करने को कहा है—वे भी इसी प्रकरण से सम्बन्ध रखती हैं। विरोधियों का कलेजा दहलाने के लिये उन्हीं की आवश्यकता है। जिन रामचन्द्र ने रावण-जैसे त्रैलोक्यविजयी राक्षसराज को मार गिराया, जिन्होंने रावण के तुल्यबल-वाली का एक ही बाण में काम तमाम कर दिया, जिनकी आज्ञा से वीर वानरों ने सीता के अन्वेषण में पृथ्वी का कोना-कोना छान डाला, जिनका पायक एक ही छलाँग में सौ योजन समुद्र को पार कर गया, जिनके भय से समुद्र ने मनुष्य रूप से सामने आकर क्षमा माँगी, जिन्होंने पूरे सागर पर सेतु बाँध दिया, जिन्हें इन्द्र, वरुण और ब्रह्मा ने वरदान दिए हैं, जिनके ऊपर महादेव की इतनी कृपा है कि परलोकगत पिता के दर्शन और सम्भाषण तक करा दिए, जिनका इतना बल और सामर्थ्य है, जिनके ऊपर देवताओं, राक्षसों और तिर्यग्योनियों तक का समान प्रेम है, जिनके साथ आज भी राक्षसराज और वानरराज मौजूद हैं, उन राम के आगे टिक सकने का सामर्थ्य किस विरोधी में है? राक्षसराज विभीषण के सामने दम मारने का हौसला किस नर-कीट में है? सुग्रीव की विपुल ग्रीवा देखकर किस विरोधी के प्राण स्थिर रह सकेंगे इत्यादि बातों को अभिव्यक्त कराने के लिये राम ने पूर्वोक्त घटनाओं का भरत के आगे

विस्तृत वर्णन करने को हनूमान् से कहा था। राम के विरोधियों के कान खड़े हो जायँ और वे अपने पाजीपन से बाज़ आ जायँ—भरत को भड़काना छोड़ दें—यही तो गुप्त रहस्य था। इस मौक़े पर सीता के वियोग में राम के रोने और लक्ष्मण के शक्ति लगने की बात कहनी चाहिए थी या नहीं, इसका निर्णय आप स्वयं कर लीजिए। भरत यदि राम के भक्त होंगे, तो यह सब बातें सुनकर उनके चेहरे से प्रसन्नता, हर्ष और उत्साह प्रकट होगा और यदि वे स्वयं राज्य हथियाना चाहते होंगे, तो उनके चेहरे का रङ्ग फीका पड़ जायगा। वह चाहे जितना छिपाना चाहें, परन्तु पूर्वोक्त सब घटनाओं का विस्तृत वर्णन सुनते-सुनते सूक्ष्मदर्शी पुरुष की पैनी दृष्टि इतनी देर में उनके हार्दिक भाव को अवश्य ताड़ लेगी, यदि इसमें कुछ कसर रह गई, तो वह भरत की कातर या प्रफुल्ल-दृष्टि से समझी जा सकेगी। कुछ भाव उनके गले की ध्वनि से परखा जा सकेगा। बाक़ी उनके इङ्गित, चेष्टित और बाहरी बर्ताव से जाना जा सकेगा। इन सब बातों को जानने के लिये चतुर, वाक्-पटु और मर्मज्ञ आदमी की आवश्यकता थी। हनूमान् में वे सब गुण मौजूद थे, अतः वे ही इस काम के उपयुक्त समझे गए।

इन पूर्वोक्त बातों पर कुछ सन्देह हो सकता है। इस बात के प्रमाण रामायण में ही मौजूद हैं कि राम को भरत पर पूर्ण विश्वास था। वे उनसे हार्दिक प्रेम करते थे। अयोध्या से चल-कर वनवास के पहले पड़ाव पर गङ्गा-किनारे राम ने लक्ष्मण

से कहा था कि धर्मात्मा भरत मेरी माता और पिता का अवश्य आश्वासन करेंगे। उनकी दयालुता का ध्यान करके मैं माता-पिता की ओर से निश्चिन्त हूँ।

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ;
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति । ७ ।
भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याऽहं पुनः पुनः ;
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज' ! ८ । अयो०, ३५

चित्रकूट पर जब लक्ष्मण सेना-सहित भरत को आते देखकर बिगड़ उठे थे और यह समझ रहे थे कि भरत अपने राज्य को निष्कंटक बनाने के इरादे से हमें मार डालने को सेना लेकर चढ़े आ रहे हैं, तब राम ने भरत पर अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया था। और लक्ष्मण को फटकारा भी था। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि यदि तुमने भरत के लिये कोई बुरा शब्द कहा, तो मैं वह अपने लिये कहा हुआ समझूँगा। भरत की सेना देखकर लक्ष्मण ने कहा था—

'अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ;
सज्जीकुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा' । १४ ।
सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ;
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः । १७ ।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे । १८ ।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् । २२ ।
सम्प्राप्तो ऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि । २३ ।

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् । २६ । अ०, ६६

सेना की धूल और कोलाहल को देखकर राम ने लक्ष्मण से कहा था कि तुम पेड़ पर चढ़कर देखो कि क्या बात है। लक्ष्मण ने ऊँचे पेड़ पर से देखा और बोले कि आप अग्नि बुझा दीजिए, (धुआँ देखकर लोग जङ्गल में रहनेवालों के स्थान का ठीक-ठीक पता पा जाते हैं) सीता गुफा के भीतर चली जायँ। कवच पहन लीजिए, धनुष और बाणों से सुसज्जित हो जाइए। भरत हमें मारने आ रहा है। यह देखिए न, रथ पर कोविदार की ध्वजा फहरा रही है। जिसके कारण आप अपने राज्याधिकार से च्युत हुए, वह शत्रु आज सामने आया है। इसका अवश्य वध करना चाहिए। कैकेयी को भी उसके संगी-साथियों और बंधु-बांधवों-सहित मैं मार डालूँगा इत्यादि। इस पर राम ने क्या कहा? सुनिए—

'पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे ;
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण । ३ ।
स्नेहेनाक्रान्तहृदयःशोकेनाकुलितेन्द्रियः ;
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः । ११ ।
अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ;
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः । १२ ।
नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ;
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते । १५ ।
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ;

वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् । १७ ।
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ;
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते । १८ । अयो०, ६७ सर्ग

देखो लक्ष्मण, पिता के आगे सच्ची प्रतिज्ञा करके फिर आज युद्ध में भरत को मारकर इस निन्दा-पूर्ण (लोकापवाद-सहित) राज्य को लेके मैं क्या करूँगा ? स्नेह और शोक से व्याकुल भरत केवल हमें देखने आए हैं, किसी दुर्भाव से नहीं। माता कैकेयी को अप्रिय वचनों से नाराज़ करके और पिता को प्रसन्न करके भरत मुझे राज्य देने आ रहे हैं। तुम भरत को निष्ठुर या अप्रिय बात कहोगे, तो वह मुझे लगेगा, यदि राज्य के लिये तुम ये कटुवाक्य कह रहे हो, तो मैं भरत से कह दूँगा कि राज्य लक्ष्मण को दे दो। वह निश्चय ही मेरी बात मान लेंगे इत्यादि।

इससे स्पष्ट है कि राम को भरत पर पूर्ण विश्वास था। वह उनके अनन्य प्रेम और भक्ति से अपरिचित नहीं थे। उन्हें यहाँ तक विश्वास था कि उनके कहने से भरत लक्ष्मण को राज्य दे डालेंगे। इस दशा में पूर्वोक्त हनूमान् को गुप्तचर बनाके भेजने की बात विरुद्ध पड़ती है। उससे भरत पर राम का अविश्वास प्रकट होता है। कहीं वह प्रक्षिप्त तो नहीं है ?

जी नहीं; प्रक्षिप्त हरगिज़ नहीं है। आप ज़रा राजनीतिक दृष्टि से काम लीजिए, तो बात साफ़ हो जायगी। राम को भरत पर पूर्ण विश्वास था, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु भरत पर उनके नाना-मामा और माता के चलाए जादू का कुछ असर न

होगा, इसपर उनका पूर्ण विश्वास नहीं था। १४ वर्ष तक भरत इनके दम-दिलासे से एकदम अछूते रह सकेंगे, इसपर उन्हें सन्देह था। वन जाते समय जब उन्होंने सीता को घर रहने के लिये उपदेश देना शुरू किया था, तो साफ़ कहा था कि तुम भरत के आगे मेरी प्रशंसा कभी न करना। राज्य पाने पर लोग दूसरों की प्रशंसा सहन नहीं किया करते। तुम सब प्रकार भरत के अनुकूल होकर रहना। राजा के पास बिना अनुकूल भाव दिखाए, रहना कठिन है इत्यादि—

'भरतस्य समीपे ते नाऽहं कथ्यः कदाचन ! २४ ।
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ;
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम । २५ ।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम्' । २६ । अ०, २६

इससे स्पष्ट है कि उस समय राम यही समझते थे कि भरत राज्य स्वीकार कर लेंगे। हाँ, चित्रकूट की घटना से उन्हें विश्वास हो गया कि भरत ने राज्य स्वीकार नहीं किया। चित्रकूट पर भरत के पहुँचने से उन्हें निश्चय हो गया कि भरत का हृदय एकदम निष्कलमष है, अतएव वह भरत के ऊपर प्रेम गद्गद हो उठे थे और लक्ष्मण को थोड़ा फटकारा भी था। जिस सेना को देखकर लक्ष्मण यह समझे थे कि भरत हमें मारने आ रहे हैं, उसीसे राम ने यह निष्कर्ष निकाला कि भरत ने राज्य परित्याग कर दिया। लक्ष्मण में राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं थी, यह हम कह आए हैं। आप जरा ध्यान दीजिए। अभी कल की बात है,

जब राम के वियोग में अयोध्या का बच्चा-बच्चा व्याकुल था। वे प्रेम-विकल प्रजा को मार्ग में सोता छोड़कर चुपके-से तड़के ही भाग खड़े हुए थे। हज़ारों आदमी उनके रथ के पीछे गङ्गा-तट तक—कोसों दूर—पैदल भागते आए थे। जो प्रजा कल तक राम के प्रेम में इतनी मग्न थी, उसका प्रेमोद्रेक इतनी जल्दी कैसे हवा हो गया कि वह आज राम का वध करने को तयार भरत के साथ इतनी बड़ी संख्या में एकत्र हो गई? भरत को राम के विरुद्ध राज्य स्वीकार कर लेने के बाद सेना, ख़ज़ाना, मन्त्री और प्रजा पर अपना प्रभुत्व जमाते बरसों लगते। वे इतनी जल्दी प्रजा पर अपना विश्वास बिठा ही नहीं सकते थे। फिर विश्वास बिठाने के बाद भी राम का वध करने के काम में तो उनका साथ कोई न देता। इतनी जल्दी, इतनी बड़ी सेना और जनता के साथ भरत का आना ही इस बात का प्रमाण था कि उनमें कोई दुर्भाव नहीं है।

लक्ष्मण इस बात को नहीं समझ सके, पर राम ताड़ गए। फिर दशरथ के मरने की तो राम को अब तक ख़बर ही नहीं थी। क्या दशरथ के जीते-जी यह सम्भव था कि भरत राम का वध करने के लिये सेना ले जा सकें? इसे भी जाने दीजिए। गङ्गा-किनारे राम के अभिन्नहृदय मित्र निषादराज रहते थे, जिनकी सहायता के विना इस दल-बल का गङ्गा-पार उतरना ही सम्भव नहीं था। उन्होंने राम के इन घातकों को रास्ता कैसे दिया? वह जंगली जीव तो आसानी से क़ाबू में आनेवाला नहीं था।

यदि किसी तरह दबाव में आ ही गया था, तो उसने अपना शीघ्रगामी दूत भेजकर राम को ख़बर क्यों न कराई ? राम का चित्रकूट का पता उसने भरत को क्यों बताया ? अच्छा इसे भी छोड़िए। भरद्वाज मुनि का आश्रम भी तो रास्ते में ही पड़ता है। यह सब सेना उसी ओर होकर आई होगी। यदि भरत में कोई दुर्भाव होता, तो क्या सम्भव था कि वह उस आश्रम के आगे बढ़ सकते ? महर्षि का राम पर कितना प्रेम था, यह जानी हुई बात है। यदि भरत का इतना दुष्ट भाव होता, तो मुनि की एक ही तीव्र दृष्टि उन्हें सेना-सहित भस्म कर देती। यदि और कुछ न सही ? तो राम को भाग जाने की सूचना तो वे दे ही देते। भरत को इन सब दुर्गों का पार करना उसी दशा में सम्भव था, जब वे अपने सद्भाव की पूरी परीक्षा दे सकें। इतने स्पष्ट कारणों के होते हुए यह समझना ही भूल थी कि भरत दुर्भाव से प्रेरित होकर चित्रकूट पहुँचे हैं।

इसी से भरत के निष्कल्मष प्रेम और निर्व्याज भक्तिभाव को देखकर राम प्रेम-पुलकित हो उठे थे। इसी से उन्होंने भरत के प्रति दुर्वाक्य बोलते हुए लक्ष्मण को मीठी चुटकी लेकर लज्जित किया था। परंतु राम अभी भरत की और भी कड़ी परीक्षा लेना चाहते थे। वह चाहते थे कि १४ वर्ष तक माता, मामा, नाना आदि के समझाने पर भी भरत यदि अपने धर्म से न डिगें, तब इन्हें पूरा-पूरा प्रमाण-पत्र देना चाहिए।

राम-वनवास और भरत-राज्य के लिये अड़ी हुई कैकेयी के

कारण अति व्याकुल और प्राण-संकट एवं धर्म-संकट में फसे महाराज दशरथ की दयनीय दशा देखकर दुखी सुमंत्र ने भी कैकेयी को फटकारते हुए कुछ ऐसी ही बात कही थी।

'मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ;

भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध' । ३० । अयो०, ३५ सर्ग

अर्थात् पापात्माओं से प्रोत्साहित की हुई तू प्रजा के पालक इंद्र-तुल्य अपने पति को असत्य मार्ग में मत फसा। ये पापात्मा कौन थे, जिनके प्रोत्साहन से आज कैकेयी राजा दशरथ को ये दारुण दुख दे रही थी? 'जानि लेहु जो जानन हारा।'

चित्रकूट पर जो बातचीत हुई, उसकी थोड़ी-बहुत चर्चा हम कर चुके हैं। वहाँ राम ने अपने विरोधियों को पूरा अवसर देना उचित समझा और १४ वर्ष बाद जब लौटे हैं, तब हनूमान् को भेजकर उसी बात की जाँच कराना चाहते हैं कि उनके विरोधियों की 'संगति' का भरत पर कुछ प्रभाव पड़ा था नहीं? उसी की पूरी-पक्की और बारीक जाँच के लिये परम चतुर सूक्ष्मदर्शी नानाकला-निपुण मार्मिक विद्वान् हनूमान् चुने गए हैं। राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर ये सब बातें साफ़ समझ में आ जाती हैं।

(बालि-वध)

विस्तार-भय के कारण अब छोटी-मोटी बातों के ऊपर से छलाँग मारकर हम किष्किन्धा पर्वत पर पहुँचते हैं और बालि-वध के प्रकरण का पर्यालोचन प्रारम्भ करते हैं। गोस्वामी

श्रीतुलसीदासजी ने तो यहाँ 'हृदय प्रीति मुख वचन कठोरा—बोला चितै राम की ओरा' कहकर कुछ 'मरहम-पट्टी' की है, परन्तु वह भक्तों के हृदय की बात है, इतिहास की नहीं। और राजनीतिक दृष्टि से भक्तों की भावना पर विचार नहीं किया जा सकता, वह इतिहास पर ही हो सकता है। अच्छा तो महर्षि वाल्मीकि इस पर क्या कहते हैं ? सुनिए—

'पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः। १६।

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्;

जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्। २२।

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः। ३०।

भूमिर्हिरण्यं रूपं च निग्रहे कारणानि च;

तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा। ३१।

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता;

इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर। ३४।

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्;

किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्। ३५।

चर्म चास्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः;

अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः। ४०।

शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्या प्रश्रितमानसः;

कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना। ४३।

उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः;

अपकारिषु ते राम नैवं पश्यामि विक्रमम्। ४६।

दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज ;
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया । ४७ ।
सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ;
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवे । ४६ ।
राक्षसं च दुराचारं तव भार्यापहारिणम् ;
कण्ठे बध्वा प्रदद्यांतेऽनिहतं रावणं रणे । ५० ।
युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ;
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाऽहं निहतो रणे । ५२ ।
क्षमं चेद् भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् । ५३ ।"

कि०, १७ सर्ग

अर्थात् हे राम, तुमने पराङ्मुख का वध करके क्या यश पाया ? पीछे से प्रहार करके तुमने क्या नाम कमाया ? मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा अन्तःकरण दूषित है, तुम धर्मध्वज—धार्मिक वेषधारी=पाखण्डी—अधर्मी हो, घास-फूस से ढके हुए कूप के समान प्रच्छन्न पापी हो । हे राम, हम लोग वन में रहते हैं और फल-मूल खाकर जीवन व्यतीत करते हैं । लड़ाई के तीन ही कारण होते हैं—भूमि, हिरण्य और रूप अर्थात् ज़र, ज़मीन और ज़न । इन्हीं तीन के पीछे दुनिया में लड़ाइयाँ हुआ करती हैं, लेकिन मुझे मारने से तुम्हें क्या मिला ? तुम्हें जंगलों या मेरे फलों पर क्या लोभ था ? न तुम्हारी धर्म पर आस्था दीखती है और न अर्थ-शास्त्र का ही ज्ञान तुम्हें मालूम होता है । (यदि

धर्म का ज्ञान होता, तो पराङ्मुख का वध क्यों करते ? और यदि अर्थ का ज्ञान होता, तो बेमतलब—विना किसी स्वार्थ के—मुझे क्यों मारते ?) मालूम होता है कि तुम यथेच्छाचारी हो, विना सोचे समझे जो जी में आता है, कर बैठते हो। तुम इन्द्रियों के दास हो। मुझ निरपराध पर पीछे से बाण चलाकर, यह कुत्सित कर्म करके भले आदमियों के आगे तुम क्या मुँह दिखाओगे ? सदाचारी लोग मेरी हड्डी और चमड़े को छूते तक नहीं; मांस मेरा अभक्ष्य है, भला ऐसे 'पञ्चनख' को मारने से तुम्हें क्या मिला ? जिन पञ्चनखों—पाँच नखवाले शशक, शल्यक, गोधा आदि—को मारने और खाने की आज्ञा धर्म-शास्त्रों ने दी है, उनमें तो मेरी गिनती ही नहीं ! फिर मुझे मारकर तुमने क्या पाया ? दशरथ-जैसे महात्मा पुरुष से तुम्हारा-जैसा शठ, अपराधी, क्षुद्र, मिथ्या-विनयी, पापी पुत्र कैसे पैदा हुआ ? हे राम, हम तो उदासीन थे। न तुम्हारे लेने में थे, न देने में। हम तटस्थों के ऊपर जो तुमने यह बहादुरी दिखाई है, वैसी अपने शत्रुओं पर दिखाते हुए तो मैं तुम्हें नहीं देखता। यदि सामने आकर लड़े होते, तो आज तुम यमराज का मुँह देखते होते। सुग्रीव से अपना मतलब निकालने के लिये तुमने मुझे मारा है। यदि पहले ही तुमने मुझसे आकर यह बात कही होती, तो मैं तुम्हारी सीता को एक ही दिन में ला देता और उसका हरण करनेवाले दुष्ट राक्षस रावण का गला बाँधकर जीवित दशा में ही तुम्हारे सामने हाजिर कर देता। यह ठीक है कि मेरे बाद सुग्रीव को राज्य

लिजे, लेकिन यह अनुचित हुआ, जो तुमने छिपकर अधर्म से मुझे मारा। यदि मेरी बातों का कोई ठीक उत्तर तुम्हारे पास हो, तो सोच-समझकर कहो।

पाठकगण, वाली की बातों को ध्यान-पूर्वक देखिए। १—यह स्पष्ट है कि राम ने वाली को छिपकर मारा, उसके सामने वह रण-क्षेत्र में नहीं गए। वाली इसे पाप-कर्म बताता है।

२—वह कंद-मूल, फल खाकर रहनेवाला था। भूमि, हिरण्य और रूप में से कुछ भी उसके वध से राम को नहीं मिला। इतना ही नहीं, वाली का चमड़ा, मांस, हड्डी आदि भी राम के किसी काम का नहीं था।

३—वाली को राम के संबंध की बहुत-सी आवश्यक बातें मालूम थीं, वह जानता था कि राम दशरथ के पुत्र हैं, वन में इनकी भार्या का हरण हुआ है और रावण ने यह किया है, राम उसका अब तक कुछ विगाड़ नहीं सके हैं एवं उसी के लिये इन्होंने सुग्रीव से मैत्री की है। निःसंदेह ये सब बातें वाली को उसके गुप्त चरों द्वारा मालूम हुई होंगी। इससे स्पष्ट है कि वह कोरा बंदर ही नहीं; राजनीति-निपुण अच्छा ख़ासा राजा था।

४—वाली को यह विश्वास था कि यदि राम उसके सामने आकर लड़े होते, तो वह उन्हें यमलोक पहुँचा देता।

५—यदि राम ने उससे बातचीत की होती, तो वह एक-ही दिन में न केवल सीता को ला देता, बल्कि रावण को भी जीता ही—गला बाँधकर—राम के सामने पेश कर सकता था।

६—वाली राम को चैलेञ्ज करता है कि यदि तुममें दम हो, तो मेरी बातों का जवाब दो। वाली के सम्बन्ध में इस प्रकरण से तीन बातें सिद्ध होती हैं। वह राजनीति-निपुण था, अति बलशाली था और बातचीत करने में भी परम प्रवीण था। वह राम से प्रच्छन्न-वध का जवाब तलब कर रहा है। राम ने जो कुछ उत्तर दिया, उसे भी देख लीजिए—

'धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्;
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाऽद्य विगर्हसे। ४।
इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना। ६।
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः। ७।
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः;
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः। ६।
त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः;
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि। १२।
सूक्ष्मः परमविज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम। १५।
चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः;
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम्। १६।
तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः;
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्। १८।
न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। २२।
सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा;
दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे। २६।

प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ ;
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनाऽनवेक्षितुम् । २७ ।
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंहितैः ;
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम्' । २८ । कि०, १८ सर्ग

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और लोकाचार को बिना जाने तुम मूर्खता-वश क्यों मेरी निन्दा करते हो। यह सब भूमि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की है। धर्मात्मा भरत इसके राजा हैं। हम तथा अन्य राजा लोग भरत की आज्ञा से पृथ्वी पर धर्म का प्रसार करने के लिये घूमते हैं। तुमने धर्म को दूषित किया है। कुत्सित कर्म किया है। तुम कामी हो, राजधर्म में स्थित नहीं हो, तुम बन्दर हो, तुम धर्म की बात क्या जानो, वह बड़ी सूक्ष्म और बड़े आदमियों के जानने योग्य है। तुम चपल हो, चपल बन्दरों के साथ विचार किया करते हो। जैसे कोई जन्म का अन्धा दूसरे जन्मान्धों के साथ विचार करे, वैसे ही तुम्हारी दशा है, फिर तुम्हें क्या सूझे! तुम भाई की पत्नी में प्रवृत्त हो, मैं कुलीन क्षत्रिय होकर तुम्हारा यह पाप कैसे सहन कर सकता हूँ। इसके सिवा सुग्रीव को राज्य देने की मैंने प्रतिज्ञा की है। वह मेरी भलाई करनेवाला है। मेरे-जैसा आदमी अपनी प्रतिज्ञा को कब भुला सकता है! इन सब बड़े-बड़े धर्म-युक्त कारणों से मैंने जो तुम्हारा वध किया है, वह तुम्हें स्वीकार करना चाहिए।

राम के इस उत्तर से तो यही मालूम होता है कि उन्होंने 'शेषं कोपेन पूरयेत्' का सहारा लिया है। गालियाँ देने के सिवा

और उनसे कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। 'उनके बड़े-बड़े धर्म-युक्त कारणों' में सिर्फ़ दो ही बातें हैं। एक तो यह कि वाली ने सुग्रीव की स्त्री को हथियाकर अधर्म किया था और दूसरे यह कि राम सुग्रीव को राज्य देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। हम इन दोनो बातों पर आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता था कि अधर्म करनेवाले को दण्ड देना राजा का काम है। राम तो राज्य-च्युत हो चुके हैं, फिर उन्हें दण्ड देने के नाम पर किसी के मार डालने का क्या अधिकार है? इस आक्षेप से बचने के लिये राम ने अपने इस कथन में आरम्भिक बातें कही हैं। यह भूमि इक्ष्वाकु वंशियों की है, भरत इसके राजा हैं और हम (राम) उनकी आज्ञा से धर्म-रक्षा के लिये भ्रमण कर रहे हैं। वस्तुतः राम के इस उत्तर में कितना औचित्य है, इसका विचार पाठक स्वयं कर लें। भरत ने राम को यह आज्ञा कब दी थी कि वह पृथ्वी में घूम-घूमकर उनके राज्य में बसनेवाले धर्म-भ्रष्ट लोगों को मारें, इसका अन्वेषण पाठकगण करें। राम को अपने इस उत्तर से स्वयं सन्तोष नहीं हुआ। इसीसे उन्होंने सुग्रीव को राज्य देने की बात उठाई। लेकिन यदि सुग्रीव को राज्य देना ही था, तो ज़रा वीरता के साथ दिया होता। वाली के सामने जाकर लड़े होते। छिपकर मारने में कौन-सी वीरता थी? इसके लिये राम ने एक और बात बनाई। सुनिए—

'शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुङ्गव।
तच्छ्रुत्वा हि महद् वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि॥

वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः । २७ ।
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून्मृगान् ;
प्रधावितान् वा वित्रस्तान्विस्रब्धानतिविष्ठितान् । २८ ।
प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसाशिनो भृशम् ;
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते । २९ ।
यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ;
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर । ३० ।
अयुध्यन् प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि । ३१ ।
दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च ;
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः । ३२ ।
तान् न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत् ;
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले' । ४३ । कि०, १८ सर्ग

हे वानरेश्वर, एक और भी 'बहुत बड़ा कारण' सुनो । इसे सुनकर तुम्हें क्रोध का त्याग करना चाहिए । मांस खानेवाले लोग अनेक प्रकार से मृगों को फाँसते हैं छिप कर भी फाँसते हैं और सामने आकर भी । रस्सी से, जाल से और कूटों—जंगली जीवों को फाँसने के कपट-पूर्ण उपायों—से उन्हें वश में करते हैं । दौड़ते हुए, डरे हुए, निश्चिन्त बैठे हुए; खड़े हुए, प्रमत्त अथवा सावधान सभी अवस्थाओं में मृगों को मांसाशी लोग मार गिराते हैं । इसमें कोई दोष नहीं है । धर्मात्मा राजर्षि भी मृगया (शिकार) करते हैं । इसीसे मैंने तुम्हें युद्ध में मार दिया । तुम चाहे मेरे साथ लड़ते थे या न लड़ते थे, इससे कुछ बहस नहीं । तुम शाखा-

मृग थे, इसलिये मैं हर हालत में तुम्हें मार सकता था। दुर्लभ धर्म और जीवन के दाता राजा लोग ही होते हैं, अतः उनसे बदला लेने की हिंसा-प्रतिहिंसा का भाव मन में नहीं लाना चाहिए, न उन पर क्रोध करना चाहिए, न उनकी निन्दा करनी चाहिए और न उनसे कोई अप्रिय बात कहनी चाहिए। राजा लोग मनुष्य के रूप में देवता होते हैं।

मालूम होता है, राम के समय में लोग बोलशेविज्म से एकदम अपरिचित थे। यदि ऐसा न होता, तो वह राजाओं को मनुष्य के रूप में देवता बताते हुए कुछ संकोच अवश्य करते। यों भी उनके मुँह से स्वयं राजाओं की इतनी बड़ाई अच्छी नहीं लगती। वाली को उन्होंने छिपकर अधर्म से मारा है, उसका उत्तर तो उनसे कुछ देते नहीं बनता, अब उसका मुँह बन्द करने के लिये राजत्व की दुहाई दे रहे हैं कि राजाओं को सब अधर्म मुआफ़ हैं, वे चाहें जो करें, लेकिन किसी को उनके विरुद्ध चूँ तक न करना चाहिए। उन्हें बुरा-भला कहना भी गुनाह है, 'ख़ताए बुज़ुर्गां गिरफ़्तन ख़ता अस्त'। राजा तो देवता होते हैं। भला देवताओं के विरुद्ध भी कोई बात कही जाती है !!

अच्छा जाने दीजिए, लेकिन, वाली भी तो राजा था। फिर राम ने ही उसे अभी इतनी गालियाँ क्यों दीं ? उसे उन्होंने मूर्ख, अधर्मी, कामी, चपल, जन्मान्ध, अविवेकी आदि की दिव्य उपाधियाँ क्यों दे डालीं ? माना कि राम उससे भी बड़े राजा थे, परन्तु

वाली ने उनके घर जाकर तो कोई डाका डाला नहीं था। उसने जो कुछ किया था, वह अपने राज्य और जाति की सीमा के अन्दर ही किया था। जब राजाओं को सौ खून मुआफ़ हैं, उनके विरुद्ध ज़ुबान हिलाना भी गुनाह है, तो फिर वाली ही इस अधिकार से वञ्चित कैसे रहा ?

राम ने जो कुछ उत्तर दिया है, उसका सारांश यही है कि १—वाली ने अपने भाई की स्त्री को अपने घर में डाल लिया था, अतः उन्होंने उसे मारा। २—सुग्रीव को राज्य देने की प्रतिज्ञा वह कर चुके थे, अतः वाली का मारना आवश्यक था और ३—वाली 'शाखामृग' (बन्दर) था, अतः छिपकर उसके मारने में भी कोई दोष नहीं था। इन बातों पर यथाक्रम विचार कीजिए। १—वाली को मारने के बाद राम ने उसकी स्त्री—तारा—सुग्रीव के हवाले कर दी। लक्ष्मण जब क्रुद्ध होकर किष्किन्धा पहुँचे थे, तब सुग्रीव तारा के साथ शराब के नशे में मस्त पड़ा था। उसने तारा को ही पहले लक्ष्मण के पास भेजा था। भाई की स्त्री को रख लेने के कारण वाली का वध यदि धर्म था, तो फिर वही काम राम ने सुग्रीव के द्वारा स्वयं क्यों कराया ? यह ठीक है कि वाली बड़ा भाई था, परन्तु बड़े भाई की स्त्री को रख लेना भी तो कोई पुण्य-कार्य नहीं है। यदि पहले अपराध के लिये प्राण-दण्ड की सज़ा हो सकती है, तो दूसरे के लिये कम-से-कम कुछ बेंत लगाने का विधान तो अवश्य होना चाहिए। फिर स्वयं राम ने यह काम क्यों होने दिया ? यदि इसे वह 'कुलीन क्षत्रिय'

होने पर भी सह सके, तो वाली के ऊपर ही एकदम आग-बबूला क्यों हो गए ?

२—सुग्रीव ने राम को सीता के दिलाने की प्रतिज्ञा की थी और राम ने उसे राज्य दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। इन्हीं दोनो स्वार्थों के कारण इन दोनो में राजनीतिक मैत्री हुई थी। विना स्वार्थ की मैत्री को राजनीति में कोई स्थान नहीं है। राम ने स्वयं इस मैत्री को 'दार-राज्य निमित्त' बताया है और सुग्रीव को अपना 'निश्रेयस-कर' (कल्याणकारक) कहा है, परन्तु प्रश्न यह है कि इस स्वार्थमूलक मैत्री के लिये राम-जैसे धर्मात्मा ने प्रच्छन्नवध का कलंक अपने सिर कैसे लिया ? वह तो अपनी नीति में स्वयं बता चुके हैं कि धर्म, अर्थ, काम के संघर्ष में वह धर्म-प्रधान नीति को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ उन्होंन काम के लिये धर्म से मुँह कैसे मोड़ा ? स्त्री पाने के लिये अपने यश को कलंकित क्यों होने दिया ? फिर उनकी स्त्री तो वाली भी दिला सकता था। उसने मरते समय कहा ही था कि मैं एक दिन में सीता को ला देता और रावण को भी पकड़ लाता, यदि तुमने मुझसे कहा होता। यह कहा जा सकता है कि राम को पहले सुग्रीव ने ही देखा और उसीने हनूमान् को उनके पास भेजकर मैत्री स्थापित कर ली। वाली का उन्हें पता ही नहीं था, न उसकी शक्ति का कुछ ज्ञान उन्हें था। लेकिन इस कथन में कुछ सार नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि सुग्रीव से मिलने के पहले वाली के बल का ज्ञान नहीं था, तो भी सुग्रीव ने स्वयं वाली का हाल उन्हें बताया था, उसकी

शक्ति का परिचय कराया था और राम के बल की परीक्षा कर लेने के बाद ही उसे विश्वास हुआ था। राम को वाली के बल आदि का पूरा पता था। तब फिर उन्होंने प्रच्छन्नवध से पहले वाली से बातचीत क्यों न की? रावण के पास युद्ध से पूर्व उन्होंने अंगद को भेजा था, सुग्रीव के पास भी लक्ष्मण को यह संदेश देकर भेजा था कि—'न स संकुचितः पंथा येन वाली हतो गतः। समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वभूः।' फिर वाली के पास उन्होंने कोई संदेश क्यों न भेजा? सभ्यता, शिष्टता, राजनीति या धर्म के नाम पर उन्हें वाली के सामने कम-से-कम एक बार संधि का प्रस्ताव तो रखना था। इतना तो कहना था कि तुम सुग्रीव की स्त्री वापस कर दो और उसे आधा राज्य दे दो। यदि ऐसा न करोगे, तो सुग्रीव तुमसे युद्ध करेगा। इतना कहने पर संभवतः वाली मान जाता, और यदि न भी मानता, तो राम के सिर से तो यह डबल कलंक दूर हो जाता। एक तो उसे छिपकर मारा और फिर पहले से बिना कोई सूचना दिए। यदि राम राजनीतिक चतुराई के द्वारा वाली को किसी प्रकार मना लेते, तो सुग्रीव का काम भी हो जाता और इनका काम—सीता-प्राप्ति—भी सुगमता से हो जाता। सबसे बड़ी बात तो यह कि प्रच्छन्नवध का पातक न होता। राम ने वाली के आगे कोई संधि का प्रस्ताव क्यों न रक्खा? इतने बड़े राजनीतिज्ञ होकर भी क्या उन्होंने यह राजनीतिक भूल की?

३—अब तीसरी बात पर विचार कीजिए। 'वाली शाखा-

मृग था, अतः उसके प्रच्छन्नवध में कोई दोष नहीं' इस जगह राम की बातें ही आपस में टकरा जाती हैं। वाली को क्यों मारा ? इसलिये कि उसने धर्म-शास्त्र का उल्लंघन किया था।

'औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः। २२।
प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः'। २३। कि०, १८

कन्या, भगिनी और अनुज-वधू के साथ कामाविष्ट होनेवाले को प्राण-दण्ड होना चाहिए। बहुत अच्छा! लेकिन यह तो बताइए कि वाली बंदर था या मनुष्य ? यदि वस्तुतः वह बंदर ही था—जैसा कि राम ने अपनी सफ़ाई में कहा है—तो फिर उसके लिये धर्म-शास्त्र की दुहाई क्यों दी जा रही है ? क्या धर्म-शास्त्र बंदरों के लिये बनाए गए हैं ? क्या धर्म-शास्त्र की आज्ञाओं का पालन पशु-पक्षियों से भी कराया जा सकता है ? जो शास्त्र केवल आर्यों के लिये विहित हैं, अनार्य मनुष्य भी जिनकी आज्ञाओं से बाध्य नहीं हैं, बहुत-से मनुष्यों में भी जिनका प्रचार न है, न कभी था, उन्हीं धर्म-शास्त्रों की दुहाई प्रच्छन्न बंदर-वध की सफ़ाई में दी जा रही है! यह कैसा अन्याय है !! धर्म-शास्त्र के वचनों से ही सिद्ध है कि वे पशु-पक्षियों के लिये नहीं हैं। फिर एक बंदर के ऊपर 'अनुज-वधू भगिनी सुत-नारी' का इल्ज़ाम कैसे लगाया जा सकता है ? आज भी कोई क़ानून पशु-पक्षियों पर लागू नहीं है। सड़कों पर पेशाब फिरने से दफ़ा ३४ में चालान होता है, लेकिन इक्कों-तांगों के हज़ारों घोड़े रोज़ दिन-दहाड़े पुलिसवालों की आँखों के सामने बीच सड़क

पर धारा-प्रवाह मूत्र करते हैं, पर उनका दफ़ा ३४ में कोई चालान नहीं करता। गौ, भैंस, बकरी, घोड़ा आदि के लिये 'अनुज-वधू भगिनी सुत-नारी' का विचार कभी नहीं किया जाता। फिर राम ने अपनी सफ़ाई में ऐसी उपहसनीय बात क्यों कही? यदि यह कहा जाय कि वाली एकदम बंदर नहीं था, वह बड़े ठाट-बाट से राज्य करता था, मनुष्यों से बातचीत कर सकता था, धर्माधर्म की बातें समझता था इत्यादि। तब फिर आपने उसे छिपकर क्यों मारा? जब वह एकदम शाखामृग नहीं था, कोरा वानर नहीं, थोड़ा-बहुत नर भी था, तब फिर आपने मारने से पहले उसके पास एक चिट्ठी या संदेश क्यों न भेजा? कोई भी अपराध अपराधी को विना बताए, उसे सफ़ाई का मौक़ा विना दिए, उसको दंड दे डालना (और फिर छिपकर!) पाप समझा जाता है। राम ने यह पाप क्यों किया? राम की दोनों बातें आपस में टकरा रही हैं। यदि वाली वानर था, तो उसे धर्म-शास्त्र के नियमों से बाध्य नहीं किया जा सकता और यदि नर था, तो उसका प्रच्छन्नवध नहीं किया जा सकता। राम इसका कोई ठीक उत्तर नहीं दे सके।

फिर यदि वाली को शाखामृग मान लिया जाय, तो भी वह अवध्य था। राम के कथनानुसार मांसाशी मनुष्य जिन मृगों को दृश्य या अदृश्य होकर मारते हैं, उनमें शाखामृग की गणना नहीं है। केवल 'मृग' शब्द देखकर ही शाखामृग को मृग नहीं बनाया जा सकता। 'चंद्र' शब्द देखकर ही न तो 'अर्धचंद्र' को

आसमान पर चढ़ाया जा सकता है, न उससे प्रकाश की ही आशा की जा सकती है। इस प्रकार की बातें 'वाक्छल' कहाती हैं। सदुत्तर में इनकी गणना नहीं होती। राम ने वही किया है। जिस शाखामृग को वह मृग-जाति में निविष्ट करके वध्य बताना चाहते हैं, उसका मांस कोई भी 'मृगयाशील राजर्षि' नहीं खाता। न इसकी हड्डी, चमड़ा आदि ही किसी काम आता है। फिर इसका वध किसलिये ? क्या सिर्फ हत्या कमाने के लिये ? राम ने जिस धर्म-शास्त्र की दुहाई देकर वाली को 'अनुज-वधू गामी' होने के कारण वध्य बताया है, उसीके अनुसार वानर को अवध्य क्यों नहीं समझा ? दूसरों के सिर जिस धर्म-शास्त्र को अनुचित रूप से लादना चाहते हैं, उसी को अपनी बार क्यों भुला गए ? अभक्ष्य और अनुपयोगी पशुओं के वध का अनुमोदन धर्म-शास्त्र नहीं करता। किसी कवि ने इसी प्रकरण में एक पद्य लिखा है—

'मुक्ताफलाय करिणं, हरिणं पलाय ;
सिंहं निहन्ति भुजविक्रमसूचनाय।
का नीतिरीतिरियती रघुवंशवीर ;
शाखामृगे भ्रमति यत्तव बाणमोक्षः।'

राजा लोग हाथी को गजमुक्ता के निमित्त मारते हैं और हिरन को मांस के लिये एवं सिंह को अपना भुज-विक्रम दिखाने के लिये (चर्म आदि के लिये भी), लेकिन हे राम, तुमने बूढ़े वानर पर बाण चलाकर कौन-सी नीति की रीति दिखाई ?

इसके अतिरिक्त क्या वालि, सुग्रीव, हनूमान् आदि उसी कोटि के वानर थे, जैसे आजकल घर-घर उछल-कूद मचाकर स्त्रियों और बच्चों को डराते फिरते हैं ? पहली ही भेंट में हनूमान् से बातचीत करने पर राम ने लक्ष्मण से कहा था कि—

'नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन परिशीलितम् ;

बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम्' । २६ । कि० ३ सर्ग

अर्थात् मालूम होता है कि इन्होंने (हनूमान् ने) सम्पूर्ण व्याकरण पढ़ा है, बहुत देर बातचीत करने पर भी इन्होंने कोई अशुद्धि नहीं की। क्या आजकल के बन्दरों से सम्पूर्ण व्याकरण पढ़ने और संस्कृत बोलने की आशा कोई कर सकता है ? रामायण से ही यह सिद्ध होता है कि हनूमान् आदि आपस में अपनी प्रान्तीय भाषा बोलते थे, जिसे राम, लक्ष्मण नहीं समझते थे, परन्तु इनसे वे लोग संस्कृत में बातचीत करते थे। संस्कृत उस समय की राष्ट्र भाषा थी। क्या ये चिह्न बन्दरों के थे ? वाली को मारने के बाद जब सुग्रीव का राज्याभिषेक हुआ, उस समय की तयारी का ज़रा मुलाहिज़ा कीजिए—

'तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् । २३ ।

शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे । २४ ।

दधि चर्म च वैयाघ्रं परार्ध्यं चाऽप्युपानहौ । २७ ।

आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्याश्च षोडश' । २८ । कि०, २६

सुग्रीव के राज्याभिषेक के समय सुवर्ण-भूषित श्वेतच्छत्र आया, शुक्लवर्ण के दो चामर आए, जिनमें सोने की डंडी लगी थी।

दही, व्याघ्र-चर्म और क़ीमती जूते भी आए। बिना गौ-भैंस पाले दही कहाँ से आया? ये वानर गौ पालकर सिर्फ़ दूध निकालना ही नहीं जानते थे, बल्कि दही भी जमा लेते थे। व्याघ्र-चर्म पर छत्र, चामर धारण करके बैठते थे और क़ीमती जूते भी पहनते थे। इनके अभिषेक के समय उसी प्रकार १६ कन्याएँ आती थीं, जैसे बड़े-से-बड़े राजा के लिये आती हैं। और देखिए—

'ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं जातवेदसम्;
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदोजनाः। ३०।
प्राङ्मुखं विधिवन्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने'। ३२। कि०, २६

हवन के लिये अग्नि प्रज्वलित की गई, कुशकण्डिका की गई, मन्त्र-पूर्वक आहुतियाँ दी गईं, उसके बाद सुग्रीव को विधि-पूर्वक उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बिठाकर राज्याभिषेक किया गया। क्या ये सब बातें कोरे बन्दरों में सम्भव हैं?

और सुनिए, बाली के मारने के बाद उसे पालकी में डालकर श्मशान पहुँचाया गया था। उस पालकी में बैठने की सीट (Seet) बहुत अच्छी थी, उसमें जाली और खिड़कियाँ बनी थीं, चित्र-विचित्र चिड़ियाँ पेड़ और सवार अङ्कित थे।

'आदाय शिबिकां तारः स तु पर्यापतत् पुनः;
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः। २१।
दिव्यां भद्रासनयुतां शिबिकां स्यन्दनोपमाम्;
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम्'। २२।
आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः;

विमानमिव सिद्धानां शाखयासायनायुताम्। २३। कि०, २५

क्या इतने पर भी वाली को कोई कोरा 'शाखामृग' कह सकता है?

वास्तव में यह एक वनेचर-जाति थी। दक्षिण दिशा के जंगलों में इसका निवास था। इसकी सुन्दर राज-व्यवस्था थी, पढ़ने-पढ़ाने की चाल थी, सेना भी थी, पुलिस भी थी, मन्त्री भी थे और गुप्तचर आदि भी थे। युद्ध और सन्धियाँ भी होती थीं। यह सब कुछ होने पर भी बहुत-सी बातें इन लोगों में जंगली-पन की भी मौजूद थीं। आज पहाड़ी जातियों में भी यह बात देखी जाती है। यद्यपि यह प्रकृत जाति प्राचीन रूप में आज नहीं दीखती; परन्तु यह सम्भव है कि दक्षिण देश और मद्रास-प्रान्त की रहनेवाली अनेक जातियाँ इन्हीं रीछ-बन्दरों की सन्तान हों। अब प्रश्न यह है कि राम ने वाली को पीछे से छिपकर क्यों मारा? और फिर इस प्रच्छन्न-पातक के बाद उस मुमूर्षु को गालियाँ देकर एवं शाखामृग बताकर 'कटे पर नमक' क्यों छिड़का?

धार्मिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नहीं है। इसके लिये आपको राजनीतिक दृष्टि से ही विचार करना पड़ेगा। अच्छा, देखिए। रामसीता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते बहुत दूर जंगलों में निकल गए थे। वहाँ की भाषा से वे अपरिचित थे। और अधि-कांश वानर संस्कृत से अपरिचित थे। सब-के-सब हनूमान् तो थे नहीं। सुग्रीव के मामा दधिबल ने जब मधुवन लुट जाने की बात राम के पास बैठे हुए सुग्रीव से कही थी तब राम उसे नहीं

समझ सके थे। उन्होंने सुग्रीव से पूछा था कि दधिवक्त्र ने दुःखी होकर क्या कहा, तब सुग्रीव ने उन्हें समझाया था। इससे स्पष्ट है कि राम इन लोगों की प्रान्तीय भाषा—जो सम्भवतः आजकल की मद्रासी भाषा की तरह रही होगी—नहीं समझते थे। इस दशा में राम का उस वन की सब व्यवस्थाओं से सुपरिचित होना कठिन था। वाली और सुग्रीव की लड़ाई थी, अतः एक का दूसरे के कार्य-कलाप पर गुप्तचरों के द्वारा नज़र रखना कुछ आश्चर्य-जनक नहीं। राम के किष्किन्धा पहुँचने पर वाली को राम का सब हाल मिल जाना जितना सुगम था, उतना राम को वाली का साङ्गोपाङ्ग पता लगना सुलभ नहीं था। उन्होंने ये सब बातें सुग्रीव के मुख से ही—कुछ-कुछ हनूमान् के मुख से भी—सुनी थीं, और सुग्रीव के साथ मैत्री हो जाने के बाद वाली से मैत्री स्थापित करना सम्भव नहीं था। 'कबन्ध' ने मरते समय सुग्रीव का ही पता बताया था और राम उनकी तलाश में पहले से ही थे।

इसके अतिरिक्त यदि राम को वाली का पूरा पता सुग्रीव-समागम के पहले लग गया होता, तो भी वे वाली से नहीं मिल सकते थे। क्यों? ज़रा राजनीतिक दृष्टि से विचार कीजिए। राजनीतिक मैत्री स्वार्थमूलक होती है, यह सभी जानते हैं। सुग्रीव अत्युत्कंठा-पूर्वक राम से तपाक से मिले। क्यों? इसीलिये कि उनका प्रयोजन अटका था। वह राम-लक्ष्मण की सूरत देखते ही ताड़ गए थे कि इनसे मेरा काम निकल सकेगा।

साथ ही उन्हें यह सन्देह भी था कि कहीं वाली ने इन्हें मेरे मारने को न भेजा हो। अतः सुग्रीव ने बड़ी कोशिश करके इनका पता लगवाया और झट-से मैत्री स्थापित कर ली, लेकिन वाली ने कुछ न किया। उसने न राम के पास कोई सन्देश भेजा, न उनकी कोई परवाह की। क्यों? इसीलिये कि उसकी कोई ग़रज़ नहीं अटकी थी। राम के द्वारा उसका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता था। सुग्रीव के साथ राम की मैत्री की ख़बर जब मिला, तो तारा (वाली की स्त्री) को कुछ चिन्ता अवश्य हुई थी। एकबार मार खाकर भागा हुआ सुग्रीव जब फिर तुरन्त लौटकर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो आया, तब तारा ने वाली से कहा था कि पिटे हुए सुग्रीव के फ़ौरन् फिर लौटने से मुझे कुछ शङ्का होती है। उसके गर्जन का शब्द असाधारण है, इसका कोई भारी कारण होगा। अङ्गद को गुप्तचरों से मालूम हुआ है कि सुग्रीव ने दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण से मित्रता की है। बुद्धिमान् सुग्रीव बिना विचारे किसी से मित्रता न करेगा इत्यादि। परंतु वाली निश्चिंत रहा। उसे कभी यह विश्वास नहीं था कि राम छिपकर मेरे ऊपर बाण चलाएँगे। अतएव उसने मरते समय कहा था कि दशरथ-जैसे महात्मा से तुम्हारा-जैसा पापी कैसे पैदा हुआ। वह राम को वीर और कुलीन समझता था और इनके द्वारा किसी अनर्थ की आशङ्का नहीं करता था। तारा से उसने कहा था—

'नच कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते ;

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति'। ५। कि०, १६ सर्ग

साथ ही वह यह भी समझता था कि सुग्रीव का पक्ष लेकर यदि राम सामने आए, तो उन्हें भी समझ लूँगा। उसे राम से कोई भय नहीं था। अपने बल-पौरुष को देखे वह राम की ओर से तनिक भी चिन्तित नहीं था। फिर वाली राम से मिलने या मित्रता स्थापित करने अथवा अपना दूत इनके पास भेजने की कोशिश क्यों करता? उसकी क्या ग़रज़ अटकी थी? विना प्रयोजन के राजनीतिक मैत्री का क्या काम?

यह भी कहा जाता है कि वाली के पास इन्द्र की दी हुई एक माला थी, जिसके कारण प्रतिद्वन्द्वी का आधा बल वह खींच लेता था, इसी माला के कारण राम वाली के सामने न गए। प्रच्छन्न वालि-वध का समाधान करने की इच्छा से जैसे अन्य कई कल्पनाएँ कवियों ने की हैं, वैसे ही यह भी एक है। वाल्मीकीय रामायण में आधा बल खींच लेने की कोई चर्चा नहीं है। हाँ, इन्द्र की दी हुई दिव्य माला का ज़िक्र वहाँ अवश्य है, जिसे वाली ने युद्ध के लिये जाते समय पहना था और मरने से पहले सुग्रीव को दे दिया था और साथ ही यह भी कहा था कि यदि मैं इसे पहने-पहने मर गया, तो फिर यह माला निस्तेज हो जायगी। जब तक वाली यह माला पहने था, तब तक उसके शरीर पर दिव्य तेज बना था—

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः;
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः। ४।

शक्रदत्तवरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ;

दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा' ।९। कि०, १७ सर्ग

यदि इसके साथ इतना और जोड़ दें कि उस माला में प्रतिपक्षी का आधा बल खींच लेने की शक्ति थी, तो भी वाली के प्रच्छन्नवध को वीर-कार्य नहीं ठहराया जा सकता। वाली को स्वाभाविक और दैवी-शक्ति से सम्पन्न मान लेने पर भी उसे छिपकर मारनेवाले के कार्य को वीरता-पूर्ण या उचित कैसे कहा जा सकता है ?

कोई यह भी कह सकता है कि राम यदि सामने जाकर मारते, तो वाली और इन्द्र इन दोनो की मर्यादा भङ्ग होती। इन्द्र की दी हुई वरदान की माला के रहते हुए वाली के मारे जाने से इन्द्र और वाली दोनो का अपमान होता। ये दोनो भगवान् के भक्त थे, अतः भगवान् ने इन दोनो को सम्मान देने के निमित्त अपनी मान-मर्यादा भुला दी। इसीलिये विष्णुसहस्रनाम में 'अमानी मानदो मान्यः' ये विष्णु के नाम लिखे हैं। भगवान् विष्णु स्वयं मान-रहित हैं और भक्तों को मान देनेवाले हैं। इसी प्रकार कृष्णावतार में भी जब भगवान् के परमभक्त भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की कि मैं आज श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण कराए बिना न रहूँगा, तो उन्होंने अपने भक्त की प्रतिज्ञा पूरी करने के निमित्त अपनी प्रतिज्ञा—महाभारत में शस्त्र न छूने की—तोड़ दी थी। रामावतार में भी उसी तरह इन्द्र की मर्यादा बनाए रखने के लिये उन्होंने वाली को छिपकर मारा।

इस प्रकार के और भी कई समाधान किए जा सकते हैं,परन्तु हम इन्हें भक्त-गोष्ठी के ही उपयुक्त समझते हैं। यहाँ हमें राजनीतिक दृष्टि से ही विचार करना है, अतः इन्हें यहीं छोड़ते हैं। हमें सिर्फ़ यही पूछना है कि राम ने वाली को मारा ही क्यों? उसे अपनी-मौत मरने के लिये छोड़ देते तो भी उनके दोनो भक्तों—इन्द्र और वाली—की मर्यादा वनी रहती। यदि वाली और सुग्रीव की मैत्री करा देते, तो भी यह वात बन जाती। कम-से-कम एक वार इन दोनो के मिलाप की कोशिश तो वह कर देखते।

वाली के पास किस बात की कमी थी? राज्य था, वल था, इन्द्र की दी हुई विजयिनी दिव्य माला थी, सेना थी, सम्पत्ति थी, मित्र थे, मन्त्री थे, रावण-जैसा राक्षसराज उसका आतङ्क मानता था, और राजनीति-निपुण तथा सर्वगुण-सम्पन्न तारा-जैसी सुचतुर नारी उसकी रानी थी। अब वाली को राम से और क्या मिलना था, जिसके लिये वह सुग्रीव की तरह इनकी मैत्री का भूखा होता? इस दशा में वाली के साथ राम की मैत्री तो सम्भव नहीं थी, हाँ, प्रार्थी की तरह राम उसके सामने जा सकते थे। एक भिक्षुक की भाँति राम वाली से प्रार्थना कर सकते थे कि 'भाई हम वड़ी मुसीबत में फँसे हैं, रावण हमारी स्त्री को चुरा ले गया है, हम उसका पता तक नहीं जानते, हमारी दशा पर दया करो और किसी तरह हमारी सहायता करो' इत्यादि। क्या राम-जैसे अपार बलशाली दिव्याऽस्त्र-सम्पन्न कुलीन क्षत्रिय-कुमार से आप इस प्रकार की प्रार्थना की आशा करते हैं?

एक मनस्वी पुरुष ऐसी प्रार्थना करने की अपेक्षा मर जाना ही स्वीकार करेगा। फिर कदाचित् बाली यह प्रार्थना स्वीकार न करता, तो क्या चारा था? राजनीति में तो वे ही प्रार्थना-पत्र स्वीकृत होते हैं, जिनके पीछे तलवार की धार चमक रही हो या कुछ अपना स्वार्थ छिपा हो। बाक़ी तो सब रद्दी के टुकड़े समझे जाते हैं। फिर बाली अपना ऐशो-आराम छोड़कर राम के पीछे क्यों परेशान होता?

अच्छा, मान लीजिए कि बाली राम की बात सुनते ही उनका कार्य करने को तयार हो जाता और जैसा कि उसने मरते समय कहा था, एक ही दिन में सीता को ला देता एवं रावण को भी ज़िन्दा ही पकड़कर राम के सामने पेश कर देता, तब क्या होता? ज़रा सोचिए, आज राम को जो महत्त्व और प्रतिष्ठा मिली है, वह बाली को मिलती और 'रामायण' नाम की पुस्तक न बनकर शायद 'वाल्ययन्' लिखने की आवश्यकता पड़ती। राम की प्रतिष्ठा, गौरव और महिमा में रावण का सबसे बड़ा हिस्सा है। यदि रावण को उन्होंने न मारा होता, समस्त सुराऽसुरों के विजेता, तमाम दिक्पालों के विनेता, त्रैलोक्य-विजयी रावण के अंजर-पंजर यदि उन्होंने ढीले न किए होते, उसकी सब दिव्य शक्तियों का संहार करके लङ्का-ध्वंस न किया होता, तो आप ही सोचिए कि उनकी कितनी प्रतिष्ठा रह जाती? यदि रावण-विजय का काम बाली के सिपुर्द करके वह हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ गए होते या बाली के पीछे-पीछे स्वयं गए

भी होते, तो आज उन्हें कौन पूछता ? वाली तो एक दिन में सीता को अवश्य ला देता; परन्तु राम के यश का सर्वनाश हो जाता। राम के सदृश वीर और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ इस बात को कैसे भुला सकता था ?

फिर यह तो बताइए कि इस प्रकार लाई हुई सीता को क्या राम का मन स्वीकार करता ? लङ्का में सीता को देखकर जब हनूमान् ने समुद्र के इस पार बैठे वानरों को सब हाल सुनाया था, तब अङ्गद ने कहा था कि अब बिना सीता को लिए खाली हाथ राम के पास जाना उचित नहीं। जब अकेले हनूमान् ने ही लङ्का की यह दुर्गति कर डाली है, तो हम सब चलकर क्या सीता को न ला सकेंगे ? इस पर वृद्ध मन्त्री जाम्बवान् ने समझाया था कि इस प्रकार लाई गई सीता को राम कभी स्वीकार न करेंगे। दूसरे की लाई शिकार को सिंह कभी पसन्द नहीं करता इत्यादि। वाली के द्वारा लाई हुई सीता राम को कभी स्वीकार्य न होती। हनूमान् ने अशोक-वाटिका में जब सीता से अपने संग चलने को कहा था, तब वहाँ भी ऐसा ही उत्तर मिला था। फिर राम तो रावण से सीता-हरण का बदला चुकाना चाहते थे। वाली के सीता ला देने पर वह कैसे पूरा होता ?

एक बात और भी थी। रावण और वाली की मैत्री थी, और कुछ सम्बन्ध भी था। रावण दिग्विजय के प्रसङ्ग में वाली से आकर अटका था और वाली के द्वारा ठीक कर दिए जाने पर मित्रता करके चला गया था। आज राम वाली के राज्य में

मौजूद थे। सुग्रीव का पक्ष एकदम दुर्बल था। किष्किन्धा पर वाली ऋषि-शाप के कारण नहीं आ सकता था। इसीसे सुग्रीव को यहाँ शरण मिली थी। यदि राम वाली को कोई कड़ी चिट्ठी या सन्देश भेजते, तो पहले तो न्यायानुसार इन्हें उसके राज्य से बाहर हो जाना पड़ता। इस दशा में सीता को ढूँढ़ने का मार्ग ही बन्द हो जाता। दूसरे किष्किन्धा से बाहर होते ही सुग्रीव सुरक्षित न रहता। फिर वाली भी वीर था। क्या वह राम की धौंस सीधे ही मान लेता? कहीं वह चिढ़कर अपने पुराने दवैल, सम्बन्धी या मित्र—रावण—से मिल जाता तो? रावण और वाली यदि मिल जाते तो राम की विपत्ति दूनी हो जाती। शत्रु का बल बढ़ता और इनका घटता। यदि राम वाली के राज्य से निकलना स्वीकार न करते और वहीं रह-कर वानरों का वध आरम्भ कर देते, तो फिर धार्मिक जगत् के सामने क्या उत्तर देते? आज एक वाली के निरपराध मारे जाने के कारण जो उत्तरदायित्व उनके सिर चढ़ा है, वह फिर हजारों गुना बढ़ जाता। इधर युद्ध-क्षेत्र भी बदल जाता। सीता-हरण करनेवाले रावण का बाल भी बाँका न होता। लङ्का युद्ध-स्थल न होती। राम का बल और समय इसी ओर क्षीण होने लगता। फिर आजकल राम का बल ही क्या था? सुग्रीव और उसके चार-पाँच साथी, बस! क्या इनके भरोसे वाली और रावण-जैसे दुर्दान्त शत्रुओं का सामना किया जा सकता था? यदि उस दशा में लक्ष्मण के शक्ति लगती, तो क्या होता? चारों

ओर वाली के सैनिकों से घिरी किष्किन्धा पर संजीवनी बूटी कैसे पहुँचती? राम एक ओर रावण के बल से घिरते और दूसरी ओर वाली की सेना से पिसते। यदि एकदम पीछे लौटते, तो फिर सीता के अन्वेषण से हाथ धो बैठते। वाली को राम यदि सन्देश भेजते, तो पहले तो उसके राज्य से बाहर होते और फिर सन्देश के दो ही परिणाम हो सकते थे। सन्धि या विग्रह। यदि सन्धि होती,तो राम का महत्त्व वाली को मिलता और इनके यश का मूलोच्छेद होता एवं यदि विग्रह होता, तो राम का पक्ष अत्यन्त दुर्बल होकर रावण और वाली इन दो चक्की के पाटों के बीच पीसा ज़ाता। इसलिये राजनीतिक दृष्टि से राम के लिये वाली रावण से भी बढ़कर शत्रु था। इसके साथ सन्धि और विग्रह दोनो ही भयानक थे। इसका मारा जाना राम के पक्ष के लिये अत्यावश्यक और अनिवार्य था। वाली को मारकर वानर-राज्य सुग्रीव को मिल जाने से दण्डकारण्य का समस्त साम्राज्य राम का वशवर्ती हो गया। समस्त वानर-सेना राम के पीछे-पीछे हो ली। वाली की जीवित दशा में यह स्वरूप सम्भव नहीं था। सुग्रीव ने राम की जितनी धौंस सही, वह वाली कभी बर्दाश्त न करता। इसलिये वाली का मारना रावण-वध और सीताऽन्वेषण के लिये परमावश्यक था। राम की अचूक राज-नीतिक दृष्टि इस मर्म को उसी समय ताड़ गई थी। जल्दी-से-जल्दी 'येन केन प्रकारेण' वाली का समाप्त करना ही उस समय अभीष्ट था। न उसे छेड़ना अभीष्ट था, न छोड़ना अभीष्ट था।

वाली के कारण राम के 'अर्थ' और 'काम' ही नहीं नष्ट हो रहे थे, बल्कि उनके यश का भी समूल विलोप हो रहा था। वालि-रूप राहु उनके यशश्चन्द्र का सर्व-ग्रास कर रहा था। यही कारण था, जिसने शीघ्र-से-शीघ्र वालि-वध के लिये उन्हें विवश किया।

फिर सुग्रीव आर्त होकर उनकी शरण में आया था। उसकी व्यथा दूर करना उनका सबसे प्रथम कर्तव्य था। आर्त भक्त भगवान् के भक्तों में सर्वशिरोमणि गिना जाता है। इसीसे 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' इस भगवद्गीता के पद्य में 'आर्त' का सर्व-प्रथम निर्देश किया है। इसका दुःख दूर करने के लिये भगवान् न्याय-अन्याय की बात को भी एक ओर छोड़ देते हैं। इस प्रकार भक्ति-पक्ष में भक्तार्तिहरण के लिये भक्त-वत्सल भगवान् का वालि-वध करना आवश्यक था और नीति-पक्ष में राजनीतिक दृष्टि से उसका मारा जाना अनिवार्य था। धार्मिक दृष्टि से इसका समाधान करना कठिन है। राम ने वालि को जो उत्तर दिया है, वह इसीलिये हृदयङ्गम नहीं होता कि वह धार्मिक पक्ष के आधार पर दिया गया है। राजनीतिक बातें धार्मिक बातों की तरह प्रकट नहीं की जातीं। वे सदा छिपाई जाती हैं और उनके ऊपर धर्म, परोपकार आदि का खोल भी चढ़ाया जाता है। यह बात सनातन से चली आई है।

आगे चलकर और भी एक जगह राम के इस हार्दिक भाव का परिचय मिला है। समुद्र पर सेतु बाँधने के बाद जब वानर-सेना सुबेल पर्वत के किनारे सुसंघटित हो चुकी, तब राम ने

रावण के पास दूत भेजने का विचार किया और उस काम के लिये अङ्गद को चुना। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि राम इस समय हनूमान् को क्यों भूल गए ? सीता के अन्वेषण में हनूमान् ने जिस धृति, स्मृति, बुद्धि और दक्षता का परिचय दिया था, वह इतिहास में अमर है, अद्वितीय है। राम ने स्वयं कहा था कि हम हनूमान् के इस उपकार से उऋण नहीं हो सकते। फिर हनूमान् के होते उन्होंने यह कार्य एक कम उम्र छोकरे को देकर उनका (हनूमान् का) अपमान क्यों किया ? लङ्का से लौटकर जब भरत के पास दूत भेजने का अवसर आया था, तब भी हनूमान् के सिवा दूसरा न मिला। फिर इसी समय उन्हें क्यों छोड़ दिया गया ? क्या हनूमान् थक गए थे, या उनके पैरों में दर्द होने लगा था ? इसकी तो कहीं चर्चा है नहीं। यदि ऐसा होता, तो वह लङ्का में युद्ध करने कैसे जाते ? फिर अङ्गद युवराज थे। एक राजकुमार को दूत-कृत्य देना भी तो उचित नहीं था। यह काम राम ने किसी जल्दी में कर दिया हो, यह बात भी नहीं है। खूब सोच-समझकर मन्त्रियों से सलाह लेकर यह किया गया था—

> संमन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्धं निश्चित्य च पुनः पुनः। ५८।
> आनन्तर्यमभिप्रेप्सुः क्रमयोगार्थतत्त्ववित्;
> विभीषणस्यानुमते राजधर्ममनुस्मरन्। ५९।
> अङ्गदं वालितनयं समाहूयेदमब्रवीत्;
> गत्वा सौम्य दशग्रीवं ब्रूहि मद्वचनात्कपे। ६०। यु०, ४१ सर्ग

मन्त्रियों के साथ सलाह करने के अनन्तर, अनेक बार हर तरह से सोच-समझ लेने के बाद विभीषण की सम्मति के अनुसार अङ्गद को रावण के पास भेजा गया था। इससे स्पष्ट है कि यह काम जल्दबाज़ी में नहीं हुआ था। राम समझते थे कि उन्होंने वाली को राजनीतिक कारणों से अनुचित रूप से मारा है। वह यह भी जानते थे कि वाली के मारे जाने के बाद सुग्रीव को और उसके साथ अन्य बड़े-बड़े वानरों को एक पक्ष में होते देखकर अङ्गद अपना मनोभाव आतङ्क या भय के मारे दबा सकता था। यद्यपि अङ्गद को अनीति-पूर्वक अपने पिता का मारा जाना अच्छा नहीं लगा, तो भी किष्किन्धा में अपनी शक्ति क्षीण देखकर वह चुप रह सकता था, परन्तु लङ्का में रावण के बल का सहारा पाकर उसके मन में छिपी हुई आग धधक सकती थी। वह अपने पिता के घातक से बदला चुकाने की बात सोच सकता था। यदि ऐसा होता और रावण से युद्ध होते समय अङ्गद अपने कुछ अनुयायियों को लेकर इधर से वानर-सेना के ही ऊपर टूट पड़ता, तो बड़ा अनर्थ हो जाने की आशङ्का थी। राम की सेना दो ओर से घिर जाती। एक ओर उसे रावण से मोर्चा लेना पड़ता और दूसरी ओर अङ्गद के आक्रमणों से अपना बचाव करना पड़ता। राम की राजनीतिक दूरदर्शिता ने इसी कारण इस अवसर पर अङ्गद को अग्नि-परीक्षा करना उचित समझा और हनूमान् को छोड़कर उन्हीं को लङ्का भेजना पसंद किया। यदि अङ्गद के

मन में किञ्चिन्मात्र भी दुर्भाव होता, तो वह अवश्य रावण से मिल जाते और फिर इधर लौटकर न आते। इस दशा में जैसे रावण को मारा था, वैसे ही अङ्गद को भी ठीक कर देना कुछ कठिन नहीं था। हाँ, उनके 'आस्तीन का साँप' बनकर रहने में अधिक भय था। और यदि रावण के पास जाकर हर तरह की ऊँच-नीच देखकर रावण की भेदनीति को व्यर्थ करके निर्विकार अङ्गद राम के पास वापस आएँ, तो फिर उनसे बढ़कर राम-भक्त कौन हो सकता है? फिर उनके दुर्भाव की आशङ्का करने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। इसी कारण राम ने अङ्गद को लङ्का भेजा। इससे स्पष्ट है कि राम ने वाली को राजनीतिक कारणों से अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त कर डालना ही उचित समझा था और धार्मिक दृष्टि से जो उन्होंने अपने दोष का परिहार किया है, वह न हृदयङ्गम है, न संतोष-जनक। वाली को उन्होंने अनुचित रूप से मारा और इस अनौचित्य के कारण लङ्का में पहुँचने के बाद तक उनके मन में अङ्गद की ओर से सन्देह का बीज बना रहा। इस प्रकरण में वाल्मीकि ने जो पद्य लिखे हैं, उनके एक-एक शब्द में गूढ़ भाव छिपा है। आप फिर से उन्हें एकबार पढ़िए।

> 'विभीषणस्यानुमते राजधर्ममनुस्मरन् ;
>
> अङ्गदं वालितनयं समाहूयेदमब्रवात्, ।

'विभीषण की सलाह के अनुसार, राजधर्म, । (राजनीति) का ध्यान रखते हुए राम ने वाली के पुत्र अङ्गद को बुलाकर

यह कहा 'कि तुम रावण के पास जाओ' इत्यादि। विभीषण राजनीति में अति कुशल थे और भुक्त-भोगी भी। जो दशा वालि और सुग्रीव की थी, वही विभीषण और रावण की थी। सुग्रीव और विभीषण दोनो एक ही मर्ज़ के मरीज़ थे। भाई का राज्य हथियाकर उसके पुत्र का अधिकार छीन लेने से राजपुत्र की क्या दशा हो सकती है, इसका अन्दाज़ा विभीषण अच्छी तरह कर सकते थे। इनकी सलाह से जिस राजधर्म पर विचार हुआ होगा, उसका आप भी अन्दाज़ा कर लीजिए। वाल्मीकि के ये शब्द आपकी सहायता करेंगे। 'अङ्गदं वालि-तनयम्।' 'वाली का पुत्र अङ्गद' यहाँ वाली का नाम लेने से क्या मतलब ? इससे कौन-सी पिछली घटना की याद दिलाई है? वालि-वध की सब कथा इस एक ही शब्द से आँखों के सामने घूम जाती है और उसके पुत्र के हृदय में इस अनुचित वध से कैसी-कैसी आँधी उठ सकती है, इसकी सूचना 'तनय' शब्द दे रहा है। इसके आगे है 'आहूय' अर्थात् बुलाकर। इससे स्पष्ट है कि अङ्गद वहाँ मौजूद नहीं थे। सलाह-मशविरा हो जाने के बाद वह बुलाए गए। ऐसा क्यों? कहीं इस मन्त्रणा में अङ्गद की ही आलोचना तो नहीं हुई थी ? कहीं उनकी ओर शङ्कित दृष्टि से देखनेवालों ने उनकी अग्नि-परीक्षा करना ही तो नहीं विचारा था ? बात तो कुछ ऐसी ही थी। महर्षि वाल्मीकि की सरस्वती इसी ओर स्पष्ट सङ्केत कर रही है।

'जानि लेहु जो जाननहारा'

अच्छा, और सब तो हुआ, लेकिन यह बताइए कि यदि राम का दिया हुआ उत्तर सन्तोष-जनक नहीं था, तो स्वयं वाली ने उसे स्वीकार कैसे कर लिया ? यदि राम ने अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिये ही वाली को मारा था और उनके पास धार्मिक दृष्टि से प्रच्छन्न वालि-वध का कोई उत्तर नहीं था, तो वाली ने उनकी सब बातों को स्वीकार कैसे किया ? और फिर जब वाली राम के दिए उत्तर से सन्तुष्ट है, तो किसी दूसरे को उस पर टीका-टिप्पणी करने का क्या हक़ ? यह तो वही बात हुई कि 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त'। जरा सुनिए कि राम का उत्तर सुनकर वाली ने क्या कहा था।

'प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ;
यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ, तत्तथैव न संशयः । ४६ ।
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात् ;
यदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद्वाक्यमप्रियम् । ४७ ।
तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ;
त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः । ४८ ।
कार्यकारणसिद्धौ च प्रसन्ना बुद्धिरव्यया । ४९ ।
मामप्यवगतं धर्माद् व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम् ;
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ, परिपालय'। ५० । कि०, १८ सर्ग

राम का उत्तर सुनने के बाद वाली ने हाथ जोड़कर राम से कहा कि जो कुछ आप कहते हैं, वह बिल्कुल ठीक है। छोटा आदमी बड़ों के साथ विवाद नहीं कर सकता। मैंने जो कुछ

अप्रिय वचन कहे, उन्हें क्षमा कीजिए। आप नीति-शास्त्र (अर्थ-तत्त्व) में निपुण हैं, प्रजा के हितैषी हैं और कार्य की सिद्धि में कारण का ऊहापोह करने में आपकी बुद्धि अप्रतिहत है। मुझे भी धर्म से व्यतिक्रान्त समझकर, हे धर्मज्ञ, धर्म-युक्त वाणी से मेरा प्रतिपालन कीजिए। अब बताइए कि जब वाली स्वयं राम की बातों को युक्त और अपने को धर्म से अतिक्रान्त (दूर) समझता है, तब फिर आपको उसकी अनुचित वकालत करके राम का अनौचित्य सिद्ध करने का क्या अधिकार है? वाल्मीकीय रामायण की 'रामाभिरामी' टीका में पूर्वोक्त अन्तिम पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है—"धर्मादेव व्यतिक्रान्तानां पुरस्कृतम् अग्रेसरम्, 'अवगतं' तदग्रे सरत्वेन प्रसिद्धं मामपि पापिष्ठतरं धर्मसंहितया वाचा परिपालय उत्तमलोकान् प्राप्नुहीति वाचाऽनुगृहाण" अर्थात् जो लोग धर्म से 'व्यतिक्रान्त' (दूरीभूत) हैं, मैं उनका 'पुरस्कृत'=अग्रगामी हूँ। मैं 'अवगत' हूँ अर्थात् अधर्मियों के अग्रगामी रूप से प्रसिद्ध हूँ। तात्पर्य यह कि मैं अत्यन्त पापी हूँ। धर्म-युक्त वाणी से मेरा पालन कीजिए यानी अपने श्रीमुख से यह आज्ञा दे दीजिए कि तू (वाली) उत्तम लोक (स्वर्ग) को चला जा।

हमारी समझ में टीकाकार ने यहाँ प्रस्तुत पद्य का अर्थ समझने में भूल की है। इसीसे उन्हें अपनी ओर से ऐसे अनेक शब्द जोड़ने पड़े हैं, जिनका मूल में कहीं पता ही नहीं है और दूसरे, कई ऐसी बातें हैं, जो युक्ति-विरुद्ध भी हो गई हैं। सबसे

पहले तो टीकाकार ने 'धर्मात्' को 'व्यतिक्रान्त' के साथ जोड़कर जबरदस्ती की है। 'व्यतिक्रान्त' शब्द समास के भीतर पड़ा है और समास के एकदेश के साथ अन्वय करना नियम-विरुद्ध है। ख़ास-ख़ास अपवाद-स्थलों को छोड़कर एकदेशान्वय व्याकरण से विरुद्ध है। प्रकृत-स्थल उन अपवादों में नहीं आता। 'धर्माद् व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्' का अर्थ किया है अधर्मियों का अग्रणी और 'अवगतम्' का अर्थ किया है 'अधर्मियों के अग्रणी रूप से प्रसिद्ध'। ये दोनो बातें एक सी हैं। यह एक 'अर्थ पुनरुक्ति' दोष है। फिर यहाँ 'अवगतम्' का अकेले कोई स्पष्ट अर्थ नहीं होता, इसलिये टीकाकार महाशय अपनी ओर से 'तदग्रे सरत्वेन' इतना और जोड़ते हैं। सेर-भर की लोमड़ी के सवासेर की दुम लगाकर उसे पाढ़ा बनाया जाता है। तब भी गुण तो कोई होता नहीं, होता है सिर्फ़ 'अर्थ-पुनरुक्ति' दोष! इसके अतिरिक्त 'अपि' शब्द विरुद्ध पड़ता है। 'अपि' का अर्थ है 'समुच्चय'=भी। प्रकृत अर्थ मानने से यह तात्पर्य निकलेगा कि "मैं भी धर्म से पतित हूँ" अर्थात् केवल तुम ही धर्म से पतित नहीं हो, मैं भी हूँ। यह अर्थ प्रकरण-विरुद्ध पड़ेगा।

वस्तुतः यहाँ न तो 'धर्मात्' को समास के एकदेश 'व्यतिक्रान्त' के साथ जोड़ने का क्लेश करने की आवश्यकता है और न 'अवगतम्' का अर्थ करने के लिये, कोई नया शब्द जोड़कर किसी द्राविड़-प्राणायाम की ज़ुरूरत है। 'धर्मात् अवगतम्' और 'व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्' यह सीधा, सुबोध और स्वारसिक

अन्वय करना ही उचित है। वाली कहता है कि मुझे भी धर्म का ज्ञान है, मैं भी धर्म से अवगत हूँ, परन्तु प्रारब्ध के फेर में पड़कर कर्तव्य से विमुख हुआ हूँ। भाई के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह मैं जानता हूँ, परन्तु 'व्यतिक्रान्त'=अतीत अर्थात् प्रारब्ध-कर्म का फल-भोग मेरे आगे-आगे चल रहा है। उसीका यह फल है। आगे चलकर सुग्रीव से बातचीत करते हुए भी वाली ने यही भाव व्यक्त किया है—

सुग्रीव, दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्विषात्;
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात्। ३।
युगपद्विहितं तात, न मन्ये सुखमावयोः;
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं जातमन्यथा। ४। कि०, २२

हे सुग्रीव, भवितव्यता के वश में पड़कर जो कुछ मैंने किया, उसका दोष न मानना। प्रारब्ध-वश वह मेरी बुद्धि में व्यामोह पैदा हुआ था। हम दोनों को (मुझे और तुम्हें) एक साथ सुख नहीं बदा था इत्यादि।

वाली ने उक्त टीकाकार के कथनानुसार न तो अपने को पापी बताया है और न कहीं राम से उत्तम लोक की प्राप्ति के लिये प्रार्थना ही की है। वह वीर था, युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ था, फिर राम के बाण से उसका काम तमाम हुआ था। तब उसे परलोक की क्या चिन्ता? उसे जो कुछ चिन्ता थी, वह इसी लोक की थी। वह समझता था कि अब मेरा मरना तो निश्चित ही है। मैं किसी प्रकार बच नहीं सकता, फिर अब

अन्त समय में यदि राम से बिगाड़ किया, तो उसका फल अङ्गद और तारा को भोगना पड़ेगा। अङ्गद के भविष्य की उसे सबसे बड़ी चिन्ता थी। पुराने वैर का स्मरण करके सुग्रीव उसे दुखी न करे, इस बात की उसे सबसे बड़ी फ़िक्र थी। इसी कारण राजनीतिक दृष्टि से उसने राम से मेल-जोल की बातें की हैं। उसने राम से साफ़ कहा है—

'न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान् ;
यथा पुत्रं गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम्। ५२।
स ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः ;
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति। ५३।
बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ;
तारेयो राम, भवता रक्षणीयो महाबलः। ५४।
सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम्। ५५।
या ते नरपते वृत्तिर्भरते लक्ष्मणे च या ;
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां चिन्तयितुमर्हसि। ५६।
मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ;
सुग्रीवो नावमन्येत तथाऽवस्थातुमर्हसि। ५७। कि०, १८ सर्ग

मुझे (वाली को) न अपने लिये कुछ सोच है, न तारा के लिये और न बान्धवों के लिये। मुझे केवल अङ्गद की चिन्ता है। आप इसकी रक्षा कीजिए। सुग्रीव और अङ्गद में समान बुद्धि रखिए और मेरे वैर के कारण सुग्रीव के द्वारा बेचारी तारा का तिरस्कार न होने पाए, इसका ध्यान रखिए इत्यादि।

राम ने वाली को आश्वासन देते समय भी स्पष्ट कहा है कि जिस तरह अङ्गद की वृत्ति तुम्हारे प्रति रही है, उसी प्रकार वह सुग्रीव के और मेरे प्रति रहेगी एवं हमारी वृत्ति भी उसमें उसी प्रकार रहेगी।

'यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर ;
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः। ६६। कि०, १८

सुग्रीव को समझाते समय भी वाली ने यही कहा है कि हे सुग्रीव अब मैं मर रहा हूँ, विपुल राज्य और निर्मल यश छोड़े जा रहा हूँ, इस दशा में मैं जो कुछ कहूँ, वह दुष्कर होने पर भी तुम्हें मानना ही चाहिए। देखो, यह अङ्गद बड़े प्यार से पाला गया है, इस समय अत्यन्त दुखी है। तुम इसकी रक्षा करना। मेरे ही समान तुम भी इसके पिता, दाता और त्राता हो।

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम् ;
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम्। ८।
मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ;
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय। ९।
त्वमप्यस्य पिता दाता परित्राता च सर्वशः ;
भयेष्वभयदश्चैव यथाहं प्लवगेश्वर। १०। कि०, २२ सर्ग

यद्यपि वाली के बाद उसके राज्य का अधिकारी, न्यायानुसार और धर्मानुसार उसका पुत्र (अङ्गद) ही था, परन्तु वाली जानता था कि यह होना नहीं है। वह समझता था कि राम-सुग्रीव की मैत्री और मेरा प्रच्छन्नवध निर्हेतुक नहीं है।

सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति और लङ्का की चढ़ाई ही इनका प्रधान लक्ष्य है। यदि इस समय अङ्गद के राज्य पाने की बात चली या अङ्गद ने ही किसी प्रकार का विरोध किया, तो उसकी भी वही दशा होगी, जो मेरी हुई है। अतः उसने इस बात को यहीं दबा देना उचित समझा और स्वयं सुग्रीव को राज्य दे दिया। अपनी दिव्य माला (इन्द्र की दी हुई) भी सुग्रीव को दे दी और अङ्गद को भी उसीके सिपुर्द करके उसे (अङ्गद को) भी अपने (सुग्रीव के) औरस पुत्र के समान समझने की प्रार्थना की।

'वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन् ;
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्शानुजमग्रतः । १ ।
सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात् ;
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् । ३ ।
प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम् ;
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम्' । ५ । कि०, २२

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा

वाली जानता था कि इस समय अङ्गद यदि सुग्रीव का विरोधी बना तो सदा के लिये राज्याधिकार से हाथ धो बैठेगा और यदि मिलकर चला, तो सम्भव है कि राम के अनुरोध से यौवराज्य पा जाय। इस प्रकार वाली का राज्य फिर वाली की ही सन्तति को प्राप्त हो सकता था। इसी कारण इस समय अङ्गद को भी उसने थोड़े में बहुत सार-गर्भित उपदेश दिया है—

दृष्ट्वा चैवात्मजं प्रियम् ;

संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् । १६ ।

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ;

सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव । २० ।

यथाहि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ;

न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहुमन्यते । २१ । कि०, २२ सर्ग

मरते समय वाली ने प्रेम-पूर्वक अङ्गद से कहा कि तुम इस समय प्रिय-अप्रिय घटनाओं को सहन करते हुए देश-काल के अनुसार आचरण करो । सुख-दुःख का सहन करो और समयानुसार सुग्रीव के वशवर्ती होकर रहो । जिस तरह मैंने तुम्हारा लालन-पालन किया था—जिस शोख़ी और बे-अदबी से तुम मेरे सामने रहते थे—उसी तरह यदि रहोगे, तो सुग्रीव तुम्हें पसन्द न करेगा । तारा अत्यन्त बुद्धिमती थी । राजनीति और शकुन-शास्त्र में बड़ी विचक्षण थी । वाली ने सुग्रीव से कहा है—

'सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिर्णये ;

औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता । १३ ।

यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ;

न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते' । १४ । कि०, २२

तारा की उपयोगिता दिखाकर उसने सुग्रीव को यह सुझाने का उद्योग किया कि वह हर समय तुम्हें विपत्ति से बचा सकती है । आगे चलकर हुआ भी वैसा ही । लक्ष्मण जब क्रुद्ध होकर किष्किन्धा पहुँचे, तो सुग्रीव के देवता कूच कर गए । कलेजा

धड़कने लगा। उस समय तारा ने ही इनकी रक्षा की थी। वाली के मरने पर तारा की परीक्षा के लिये हनूमान् ने कहा था—

'संस्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ;

सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि' । ११ । कि०, २१

अर्थात् वाली के अन्त्येष्टि-संस्कार की तयारी करो और अङ्गद का राज्याभिषेक कर दो। अपने पुत्र को राज-सिंहासन पर बैठा देखकर तुम्हारे मन को शान्ति मिलेगी। इस पर तारा ने जो उत्तर दिया था, वह उसकी दूरदर्शिता और राजनीति-निपुणता का बड़ा सुंदर उदाहरण है। उसने कहा था--

'अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ;

हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् । १३ ।

नचाहं हरिराज्यस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा ;

पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः । १४ ।

न ह्येषा बुद्धिरास्थेया हनूमन्नङ्गदं प्रति ;

पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम' । १५ । कि०, २१ सर्ग

अङ्गद-जैसे सौ पुत्र एक ओर और इस महावीर (वाली) के शरीर का—फिर चाहें वह मुर्दा ही क्यों न हो—स्पर्श एक ओर। मैं इन दोनो में अन्तिम को श्रेष्ठ समझती हूँ। आज मेरा अधिकार न वानर-राज्य पर है, न अङ्गद पर। आज इन सब बातों के विचार करने का काम उसके (अङ्गद के) चचा का है। उन्हीं को सब बातों का अधिकार है। हे हनूमन्, अङ्गद के प्रति तुम कोई विपरीत धारणा न करना। पुत्र का सर्वोपरि हित-

चिन्तक पिता हुआ करता है, माता नहीं। आज सुग्रीव उसके पिता हैं। वह जानें और उनका काम जाने। मेरे लिये तो यह वाली का शव ही सब कुछ है इत्यादि।

वाली जानता था कि अब मेरा मरना तो निश्चित है। इस समय यदि राम से बिगाड़े रहूँगा, तो उसका कुफल अङ्गद और तारा को जन्म-भर भोगना पड़ेगा। और इस समय यदि अपनी नीति बदल दूँ, तो इनका कल्याण होगा। राम इस समय की मेरी बात अवश्य मानेंगे। उनका काम तो हो ही चुका है। मेरे प्रच्छन्नवध से जो उनका अपयश हुआ है, उसे धोने के लिये बुद्धिमान् राम मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

वस्तुतः वाली का अनुमान ठीक निकला। राम ने अङ्गद को सुग्रीव का युवराज बना दिया। सुग्रीव के बाद सुग्रीव का पुत्र राज्य का अधिकारी न हुआ, बल्कि अङ्गद हुआ। देखिए—

'रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो वानरेश्वरः ;
अङ्गदं संपरिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत्,। ३८। कि०, २६

अर्थात् राम की आज्ञा मानते हुए सुग्रीव ने अङ्गद को युवराज बनाया। इससे स्पष्ट है कि सुग्रीव को राम ने आज्ञा दी थी कि अङ्गद युवराज बनाया जाय। यही तो वाली चाहता था। इसीलिये तो राजनीतिक दृष्टि से उसने अपनी बातचीत का ढंग एकदम बदल दिया था। पहले अति कठोर शब्दों में राम की भर्त्सना करने के बाद अन्त में एक विनयावनत शिष्य की भाँति बातचीत करने लगा था।

सुग्रीव ने अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि राम के दबाव से अङ्गद को युवराज बनाया था, यह बात और भी एक जगह प्रकट हुई है। जब सीता के ढूँढ़ने का समय समाप्त होने लगा और कुछ पता न चला, तो अङ्गद ने कहा था कि अब सुग्रीव मुझे अवश्य मरवा डालेगा। उसने अपनी इच्छा से तो मुझे युवराज बनाया नहीं है, राम ने मुझे युवराज बनवाया है। इस दशा में पुराना वैरी सुग्रीव, इस अपराध के बहाने अति तीव्र दण्ड से मेरा घात कराएगा—

'न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः। १७।
नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाऽक्लिष्टकर्मणा;
स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम्। १८।
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः'। १९। कि०।५२ सर्ग

इस प्रकरण में कई जगह तारा की बुद्धिमत्ता और राजनीति-कुशलता का भी अच्छा परिचय मिलता है और साथ ही यह भी भासित होता है कि वाली को राम के ईश्वर होने का और अपनी मृत्यु इसी प्रकार होने का भी ज्ञान हो गया था।

वालि-वध के प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति में अत्यन्त विशुद्धता एकदम असम्भव है। धर्मनीति के समान राजनीति के अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग कभी एक से हो ही नहीं सकते। इसमें कल्मष-कालुष्य का आना अनिवार्य है। चाहें कोई ईश्वर का अवतार ही क्यों न हो, चाहें कोई मर्यादा-पुरुषोत्तम ही क्यों न हो, राजनीतिक दाव-पेंचों में उसे अपने स्वार्थ को

सर्वोपरि मानना पड़ेगा। राजनीति के प्रधान लक्ष्य अर्थ और काम हैं, धर्म और मोक्ष नहीं। फलतः राजनीति में रजोगुण के विकास और विस्तार का होना अनिवार्य है। यहाँ नितान्त सात्त्विकता का दर्शन पाना असम्भव है। मर्यादा-पुरुषोत्तम ने ही राजाओं के लिये यह मर्यादा बाँधी है कि राजनीति रजोगुण से सर्वथा शून्य नहीं हो सकती।

(लङ्का की चढ़ाई)

वालि-वध के बाद लङ्का की चढ़ाई ही प्रधान घटना है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय, तो वालि-वध, लङ्का-विजय की भूमिका-मात्र है। राजनीतिक दृष्टि से विचार करनेवालों की दृष्टि वालि-वध के अनन्तर समुद्र-तट पर पड़ी वानर-सेना में अचानक दीख पड़नेवाले विभीषण के ऊपर विशेष रूप से अटकती है। इसके बीच की कथा में भी अनेक छोटी-मोटी बातें हैं, परन्तु वे उतनी आकर्षक नहीं।

प्रच्छन्न वालि-वध के सम्बन्ध में महाकवि 'भवभूति' की कल्पना का उल्लेख हम कर आए हैं। विभीषण-समागम पर भी उन्होंने एक चटपटी कल्पना की है। उनका कहना है कि रावण का नाना माल्यवान् बड़ा राजनीतिज्ञ था। उसके गुप्तचर सर्वत्र घूमा करते थे। राम ने विश्वामित्र के यज्ञ में जब सुबाहु को मारकर मारीच को बिना फल के बाण से ही सैकड़ों कोस फेंक दिया, तभी से माल्यवान् की दृष्टि भावी भय की आशङ्का से राम पर गड़ी थी। राम ने जब पिनाक तोड़ा, तब उसीने सुदूर-

वर्ती परशुराम को खबर कराई। राम और परशुराम दोनो ही राक्षसों के शत्रु थे, अतः उसने इन दोनो को आपस में लड़ा देना ही उचित समझा। उसीने मन्थरा के ऊपर शूर्पणखा का आवेश कराके कैकेयी के द्वारा राम को वनवास दिलाया और बाली के साथ झगड़े का सूत्रपात भी उसीने कराया। साथ ही उसने यह भी सोचा कि यदि राम इन सब विपत्तियों से पार निकलकर राक्षसों पर आ ही टूटे, तो विभीषण से उनकी मैत्री कराना ही श्रेयस्कर होगा। इसी उद्देश्य से उसने रावण और विभीषण को आपस में लड़ा दिया और रावण के द्वारा विभीषण का घोर अपमान कराया। माल्यवान् राम के दयालु स्वभाव से अच्छी तरह परिचित था। वह समझता था कि यदि विभीषण राम से जा मिले, तो लङ्का-विजय के बाद राम इसी को राज्य दे देंगे। और इस प्रकार राक्षसों का राज्य उन्हीं के कुल में बना रहेगा। किसी भिन्न जातिवाले के अधीन होकर राक्षसों को न रहना पड़ेगा। यदि विभीषण से राम की मैत्री न हुई और वह भी रावण के साथ मारा गया, तो सम्भव है कि लङ्का का राज्य किसी विजातीय के हाथ में पड़ जाय। इस प्रकार राम-विभीषण-समागम में परम चतुर मंत्री माल्यवान् की नीति काम कर रही थी। जिसके कारण लङ्का का राज्य न तो अराक्षसों के हाथ में गया और न राज-वंश (रावण-वंश) के बाहर गया।

बात तो बड़ी मज़ेदार है, परन्तु सर्वांश में इतिहास-सिद्ध नहीं। नाटककार को ऐतिहासिक घटनाओं में किसी विशेष प्रयोजन

के लिये उचित रूप से थोड़ा हेर-फेर कर लेने का 'जन्मसिद्ध अधिकार' है, अतः महाकवि 'भवभूति' की बातों पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

इस बात का पता तो रामायण के देखने से भी चलता है कि विभीषण के समान माल्यवान् भी सीता के अपहरण को घृणा की दृष्टि से देखता था। उसने राज-सभा में साहस-पूर्वक इसका विरोध करते हुए सीता को लौटा देने की सलाह भी रावण को दी थी, जिसके कारण उसे रावण के द्वारा अपमानित और लज्जित भी होना पड़ा था। विभीषण ने तो इसी कारण लङ्का छोड़ी थी।

इसके अतिरिक्त विभीषण ने राम के साथ मेल करने और उनका कृपा-पात्र बनने के लिये बहुत पहले से सूत्रपात कर रक्खा था। विभीषण खूब समझते थे कि राजनीतिज्ञ लोग शत्रु-पक्ष से आए हुए किसी व्यक्ति पर सहसा विश्वास नहीं किया करते। फिर यदि शत्रु का घनिष्ठ सम्बन्धी कोई हो, तब तो वह और भी अविश्वास का पात्र समझा जाता है। वह यह जानते थे कि यदि मैं कभी अचानक राम के पास जा खड़ा होऊँ, तो यह सम्भव नहीं है कि वह सहसा मुझे अन्तरङ्ग गोष्ठी में मिला लें या तुरन्त ही मुझ पर विश्वास करने लगें। सीताहरण के बाद, रावण पर किसी के भी समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव न पड़ता देखकर उनकी यह निश्चित धारणा हो चुकी थी कि अब राम-रावण-युद्ध अनिवार्य है और राक्षसों का ध्वंस भी

अवश्यम्भावी है। विभीषण राम के स्वभाव और प्रभाव से परिचित थे और साथ ही यह भी समझते थे कि लङ्का के गुप्त-भेद जानने और राक्षसों के मायामय युद्धों का रहस्य समझने के लिये राम को मुझसे बढ़कर दूसरा सहायक नहीं मिल सकता। उन्हें यह भी निश्चय था कि राम का कृतज्ञता-पूर्ण आर्य-हृदय विपत्ति के समय की हुई मेरी सहायता के प्रत्युपकार से कभी विमुख नहीं हो सकता। इन्हीं सब बातों को सोचकर विभीषण बहुत दिनों से राम के साथ सम्बन्ध जोड़ने और उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे।

विभीषण की बड़ी लड़की का नाम था कला। यह अपनी माता की प्रेरणा से अशोक-वाटिका में सीता के पास आया-जाया करती थी और विभीषण ने सीता को लौटाने के लिये क्या-क्या कोशिश की, कैसा-कैसा प्रयत्न किया इत्यादि सब बातें उन्हें सुनाया करती थी। जब सीता की खोज करने हनूमान् लङ्का में पहुँचे और उन्हें सीता का साक्षात्कार हुआ, तब सीता ने और बहुत-सी बातों के साथ इसकी चर्चा भी हनूमान् से की थी एवं विभीषण के समान मत रखनेवाले और राक्षसों का भी नाम लिया था। सीता और हनूमान् के सम्वाद में वाल्मीकि ने लिखा है—

'विभीषणेन च भ्रात्रा मम निर्यातनं प्रति ;
अनुनीतः प्रयत्नेन न च तत्कुरुते मतिम्। ३।
ज्येष्ठा कन्या कला नाम विभीषणसुता कपे ;

तथा ममैतदाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम् । ११ ।

अविन्ध्यो नाम मेधावी विद्वान् राक्षसपुङ्गवः ;

धृतिमान् शीलवान् वृद्धो रावणस्य सुसंमतः' । १२ ।

रामक्षयमनुप्राप्तं रक्षसां प्रत्यचोदयत् ;

नच तस्य स दुष्टात्मा शृणोति वचनं हितम्' । १३ । सुं०, ३७ सर्ग

राम ने हनूमान् से सीता का हाल अनेक बार खोद-खोदकर पूछा था। बार-बार सुना था। वह दुःख-ग्रस्त सीता की गाथा सुनते-सुनते अघाते ही न थे, तब यह कैसे सम्भव है कि उनके सामने इन बातों की चर्चा कभी आई ही न हो और लङ्का की चढ़ाई के पहले राम को विभीषण की आत्मानुकूलता का पता ही न लगा हो। माता के द्वारा प्रेरणा-पूर्वक भेजी हुई विभीषण की कन्या का सीता के साथ मेल-जोल और अपने पिता की उक्त बातें सुनाना, चाहें अन्य दृष्टि से साधारण अथवा आकस्मिक समझा जाय, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से विचार करनेवालों के लिये तो यह घटना निर्हेतुक नहीं हो सकती।

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो इसकी चर्चा तक नहीं की है। उन्हें अपने भजन-भाव में शायद इसकी अपेक्षा भी न दीखी हो। उनके वर्णन में तो पद-पद पर राम-भक्ति की पुट मौजूद है। उन्होंने विभीषण का जो वर्णन किया है, उससे तो ऐसा चित्र सामने आता है, जिससे किसी मन्दिर के आँगन में तुलसी के झुरमुट के पास रामनामी दुपट्टा ओढ़े तिलक-छाप से सजे खड़ाऊँ पहने हरएक के आगे हाथ जोड़कर 'दासोऽहं

दासोऽहम्' की रट लगाते और चरणामृत बाँटते हुए एक भक्त या पुजारी की शक्ल में विभीषण दीख पड़ते हैं। परन्तु वाल्मीकि के विभीषण एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, चतुर वक्ता, भयङ्कर तथा सुदृढ़ देह राक्षस और पराक्रमी योद्धा के रूप में सामने आते हैं। महर्षि वाल्मीकि और गुसाईंजी के हनुमत्सीता-सम्वाद आदि वर्णनों में भी कविता की दृष्टि से उतना ही अन्तर है, जितना किसी दुशाले और टाट में हुआ करता है। हाँ, भक्ति-रस की खाँड उसपर गुसाईंजी ने ठौर-ठौर अवश्य चिपकाई है।

अच्छा अब असली मतलब पर आइए। समुद्र के किनारे वानर-सेना लिए हुए राम पड़ाव डाले पड़े हैं और समुद्र पार करने का उपाय सोच रहे हैं। उसी समय दूर से आकाश में उड़कर आते हुए चार-पाँच भयानक राक्षस दीख पड़े, जो सेना के ठीक ऊपर आकर एकदम निश्चल होकर खड़े हो गए। सेना में इस घटना से खलबली मच गई। सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी ने कहा मारो, किसी ने कहा पकड़ो, किसी ने कहा जरा ठहरो, मामला समझ लेने दो। इतने में सुग्रीव ने राम से कहा कि देखिए यह सब शस्त्रों से सुसज्जित महाभयानक राक्षस अपने साथ और चार शस्त्रधारी राक्षसों को लिए हुए चला आ रहा है। निःसन्देह यह हमें मारने के उद्देश्य से ही आ रहा है। शीघ्र आज्ञा दीजिए कि हम इन सबका काम तमाम कर दें—

सुग्रीव :—

'एष सर्वायुधोपेतश्चतुर्भिः सह राक्षसैः ;
राक्षसोऽभ्येति पश्यध्वमस्मान् हन्तुं न संशयः । ७ ।
शीघ्रं व्यादिश नो राजन् वधायैषां दुरात्मनाम्' । ६ । युद्ध०, १७सर्ग

'महाप्राज्ञ' (अत्यन्त चतुर) विभीषण वानरों की इस हल-चल को देखते ही मतलब ताड़ गए। इससे पूर्व कि बिना विचारे विकट वन्दर दाँत किटकिटाके उन्हें काटने दौड़ पड़ें उन्होंने वहीं आकाश से (दूर खड़े-खड़े) मेघ के समान गम्भीर वाणी से अपना हाल कहना आरम्भ किया। सुनिए—

'स उवाच महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान् ;
सुग्रीवं तांश्च संप्रेक्ष्य खस्थ एव विभीषणः । ११ ।
रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः ;
तस्याऽहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः । १२ ।
तेन सीता जनस्थानाद् हृता हत्वा जटायुषम् ;
रुद्ध्वा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता । १३ ।
तमहं हेतुभिर्वाक्यैर्विविधैश्च न्यदर्शयम् ;
साधु निर्यात्यतां सीता रामायेति पुनः पुनः । १४ ।
स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः ;
उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् । १५ ।
सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः ;
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः । १६ ।
निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ;
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्' । १७ । युद्ध०, १७ सर्ग

रावण नाम का दुराचारी राक्षस आजकल राक्षसों का राजा है। मैं उसका छोटा भाई हूँ। विभीषण मेरा नाम है। उसी रावण ने जटायु को मारकर जनस्थान से सीता का हरण किया है और उसे राक्षसियों के पहरे में रोक रक्खा है। मैंने अनेक बार युक्तियों द्वारा रावण को यह समझाया कि सीता को राम के पास वापस भेज दो, परन्तु उसके सिर पर मौत खेल रही है, उसने मेरी एक न मानी। मेरे साथ बहुत क्रूर व्यवहार किया और उसने एक दास के समान मेरा तिरस्कार किया। आज मैं अपने सब पुत्र-कलत्र छोड़कर राम की शरण में आया हूँ। आप लोग शीघ्र ही राम को मेरे आने की सूचना दीजिए। शरणागत-वत्सल राम से कहिए कि विभीषण आपकी शरण में उपस्थित है।

विभीषण के उक्त कथन से उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का पता चलता है। उनके प्रथम वाक्य ने ही वानर-सेना में उठती हुई अग्नि पर पानी के छींटे का काम किया। रावण का अनुगामी समझकर ही वानर उन्हें मारने को तयार हुए थे। परन्तु विभीषण जब रावण को दुराचारी बता रहे हैं, तब फिर वह उसके अनुगामी कैसे ? उन्होंने तो सीता के लौटाने की बात कहकर अपनी दुर्दशा (लङ्का से निर्वासन) मोल ली है। तब तो फिर वह रावण के नहीं, बल्कि राम के ही अनुयायी हैं। इन बातों को सुनते ही वानर-सेना का जोश-ख़रोश ठंडा पड़कर एक शान्त-वातावरण तयार हो गया। लोग उछल-कूद छोड़कर ठंडे दिमाग़ से विचार करने को प्रस्तुत हो गए। राम को सूचना दी

गई और प्रकृत घटना पर विचार आरम्भ हुआ। विभीषण को अपने पक्ष में मिलाना चाहिए या नहीं, इस बात पर मन्त्री लोग अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करने लगे। सबसे पूर्व सुग्रीव ने ही राय दी कि विपक्ष की सेना में अचानक आया हुआ शत्रु अवश्य अवसर पाते ही घात करेगा। जिस तरह कहानी प्रसिद्ध है कि किसी उल्लू ने अपने शत्रु काक-दल में घुसकर उसका नाश किया था। (यह प्राचीन कथा 'पञ्चतन्त्र' के 'काकोलूकीय'-प्रकरण में लिखी है) इस समय आपको (राम को) अपने मन्त्र, (गुप्त सलाह) व्यूह (सेना-संघटन) नीति और गुप्तचर-विभाग पर बहुत सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिए। वानरों और राक्षसों की सब चेष्टाओं से सतर्क रहना चाहिए। राक्षस लोग कामरूप (इच्छानुसार रूप बदल सकने-वाले) होते हैं। वे शूर और बदला लेने में चतुर होते हैं। छिपकर धोखा देने में भी निपुण होते हैं। उनपर कदापि विश्वास न करना चाहिए। मेरी (सुग्रीव की) राय में तो नृशंस रावण के भाई इस विभीषण का और उसके साथियों का तीव्र दण्ड से अभी वध कर देना चाहिए।

> 'प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राप्तः शत्रुरतर्कितः ;
> निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूको वायसानिव । १९ ।
> मन्त्रे व्यूहे नये चारे युक्तो भवितुमर्हसि ;
> वानराणां च भद्रं ते परेषां च परन्तप । २० ।
> अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः ;

शूराश्च निकृतिज्ञाश्च तेषां जातु न विश्वसेत् । २१ ।
वध्यतामेष तीव्रेण दण्डेन सचिवैः सह ;
रावणस्य नृशंसस्य भ्राता ह्येष विभीषणः' । २६ । यु०, १७ सर्ग

सुग्रीव के वाद अङ्गद ने अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने कहा कि विभीषण की परीक्षा करना अत्यावश्यक है। यह शत्रु के पास से आया है, अतः शङ्कनीय है। सहसा इसका विश्वास न करना चाहिए। परीक्षा के बाद यदि उसमें दोष दीखें, तो त्याग करना और गुण दीखें, तो संग्रह करना चाहिए।

'शत्रोः सकाशात्सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्य एव हि ;
विश्वासनीयः सहसा न कर्तव्यो विभीषणः । ३३ ।
यदि दोषो महांस्तस्मिंस्त्यज्यतामविशङ्कितम् ;
गुणान् वापि बहून् ज्ञात्वा संग्रहः क्रियतां नृप' । ४२ । यु०,१७सर्ग

अङ्गद की सम्मति राजनीति के सिद्धान्तानुसार विल्कुल ठीक होने पर भी न तो वह व्यावहारिक थी, न समयोपयोगी। उस समय इतना अवसर ही कहाँ था, जो महीनों या हफ़्तों विभीषण को अलग रखकर उनके पीछे गुप्तचर छोड़े जा सकें। वहाँ तो ऐसी सम्मति की आवश्यकता थी, जो तत्काल काम में लाई जा सके। शरभ की सम्मति भी अङ्गद के ही समान थी। वह बोले—

'क्षिप्रमस्मिन्नरव्याघ्र चारः प्रतिविधीयताम्' । ४३ ।

यह तो कठिन नहीं था कि विभीषण के पीछे तुरन्त कोई गुप्तचर लगा दिया जाता, परन्तु उसे सब रहस्य का तुरन्त पता लगा लेना बहुत कठिन था। मान लीजिए कि विभीषण रावण की

ओर से किसी कूटनीति के कारण ही यहाँ आए थे, तो क्या यह सम्भव था कि वह राम के गुप्तचर को देखते ही उसके आगे किसी भावुक भक्त की तरह खड़ताल बजा-बजाकर अपना सब रहस्य गाना शुरू कर देते ? म० वाल्मीकि के विभीषण तुलसीदासजी के विभीषण के समान (राम-नाम-अङ्कित गृह शोभा) तो थे नहीं।

जाम्बवान् बोले कि विभीषण, रावण के पास से आया है और रावण हमारे साथ बद्धवैर भी है और पापात्मा भी। इसका अचानक आना देश-काल-विरुद्ध (बे मौक़े) भी है, अतः यह शङ्कनीय है। मैन्द (यह भी वानर-सेना में एक प्रधान सेनापति थे) जाम्बवान् की बात को पूरा करते हुए बोले कि मधुर उपचार के साथ धीरे-धीरे इससे सब रहस्य जानने चाहिए—

जम्बवान्—'बद्धवैराच्च पापाच्च राक्षसेन्द्राद् विभीषणः ;
अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्यतामयम् । ४६ ।

मैन्दः—'पृच्छयतां मधुरेणाऽयं शनैर्नरपतीश्वर । ४८ । यु०, १७

अब इन सबके बाद हनूमान् की बारी आई। विभीषण के सम्बन्ध में हनूमान् जितना जानते थे, उतना वानर-सेना-भर में कोई न जानता था। राम को भी जो कुछ मालूम हुआ था, वह इन्हीं के द्वारा। अतएव इनकी सम्मति और सबसे भिन्न रही। इन्होंने पूर्वोक्त सब मन्त्रियों के मत का युक्ति-युक्त खण्डन करके अपनी राय दी कि—

'एष देशश्च कालश्च भवतीह यथा तथा । ६७ ।

दौरात्म्यं रावणे दृष्ट्वा विक्रमञ्च तथा त्वयि ;
युक्तमागमनं ह्यस्य सदृशं तस्य बुद्धितः । ५८ ।
उद्योगं तव सम्प्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तञ्च रावणम् ;
वालिनञ्च हतं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम् । ६६ ।
राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः ;
एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संग्रहः' । ६७ । यु०, १७ सर्ग

हनूमान् बोले कि इस समय विभीषण का यहाँ आना देश-काल के विरुद्ध (जैसा कि जाम्बवान् ने अभी बताया था) नहीं है, बल्कि उसके अनुकूल है। रावण की दुष्टता और आपका पराक्रम देखकर यहाँ उसका आना बुद्धिमत्ता-पूर्ण है। उसकी जैसी राजनीति में निष्णात बुद्धि है, यह कार्य उसी के अनुरूप है। आपका उद्योग और रावण का मिथ्याचार देखकर वह यहाँ आया है। वाली को मारकर उसके स्थान पर आपने सुग्रीव को राजा बनाया है, यही समझकर राज्य की कामना से वह यहाँ आया है। इन बातों को देखते हुए मेरी (हनूमान् की) सम्मति में उसे अपने में मिला लेना चाहिए।

राम को अन्याय और अधर्म से वैर था। किसी के राज्य को 'ईश्वर की दी हुई धरोहर' बता के 'अमन क़ानून की रक्षा' के बहाने उसका शोषण करना उनका लक्ष्य नहीं था। वाली का राज्य उन्होंने उसीके भाई सुग्रीव को दे दिया था, जिसने उनकी शरण गही थी। जो दशा वाली और सुग्रीव की थी, ठीक वही रावण और विभीषण की थी। इसलिये यदि विभीषण ने यह

आशा की हो कि अन्यायी रावण का वध करके राम मुझे उसका राज्य दे देंगे, तो कोई आश्चर्य नहीं।

विभीषण की बुद्धिमत्ता का हाल और रावण के साथ उनकी अनबन आदि का वृत्तान्त सीता से कला (विभीषण की कन्या) के प्रकरण में हनूमान् को मालूम हो चुका था। इस समय उन्हें अपनी सम्मति स्थिर करने में उन बातों से अवश्य सहायता मिली होगी। इन सबके अन्त में राम ने अपनी सम्मति प्रकट की।

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन;
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्'। ३। यु०, १८

इस पद्य के चतुर्थ चरण में 'एतद्धि गर्हितम्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। प्रकृत पद्य की पद-योजना कुछ ऐसी है कि अन्वय-भेद और भाव-भेद के कारण इसके कई अर्थ हो सकते हैं। उन सबका संग्रह करने से एक छोटी-मोटी पुस्तक बन सकती है। विस्तार-भय के कारण और राजनीतिक विचारों में अनुपयुक्त होने के कारण हम उन सबको छोड़ते हैं।

राम ने कहा कि हे 'मित्र' (सुग्रीव) जो मेरे पास 'भाव'—भक्ति या मित्रभाव—से प्राप्त होता है, मैं उसका परित्याग कभी नहीं करता। फिर भले ही उसमें दोष ही क्यों न हों। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि कोई दूषित है, तो आप उसे क्यों स्वीकार करते हैं? दोषों के होते हुए भी यदि आप स्वीकार करेंगे, तो फिर गुणों की प्राप्ति का कोई यत्न ही क्यों करेगा? इसका उत्तर देते हैं—'सतामेतदगर्हितम्' अर्थात् सज्जनों की दृष्टि में यह

बात गर्हित नहीं है। जो शरणागत का परित्याग करता है, वही सज्जन-समुदाय में निन्दित समझा जाता है। शरणागत दूषित हो या अदूषित, उसका त्याग ही दोषाधायक है। शरणागत को अभय देना ही सन्मार्ग है। उसके गुण-दोषों की परीक्षा करना अपेक्षित नहीं। यदि दोष-युक्त शरणागत का स्वागत किया गया, तो सज्जनगण उसकी गर्हणा (निन्दा) न करेंगे, अतः विभीषण जब शरणागत है, तो उसकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है। यद्यपि कई मन्त्रियों ने उसमें दोष होने की सम्भावना की है, वह ठीक भी हो सकता है, परन्तु विभीषण तो शरणागत है। उसने 'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः' कहा है। उसने तो 'सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्' कहकर अपना सन्देश भेजा है। तब फिर उसका त्याग कैसे हो सकता है? जो मुझे 'सर्वलोक-शरण्य' समझकर मेरे पास आया है, जिसने सब पुत्र-कलत्र छोड़कर मेरी शरण गही है। क्या मैं उस आर्त-शरणागत का परित्याग करूँ? यह कैसे हो सकता है? जो शरणागत है, उसे शरण में तो लेना ही है। अब रही यह बात कि वह हमें हानि पहुँचाने के अभिप्राय से छद्म-रूप में आया है, इसका उत्तर राम ने आगे चलकर दिया है—

'स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः ;
सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं मम शक्तः कथंचन। २२।
पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान् ;
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर। २३।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने ;

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम'। ३३। यु०, १८

हे सुग्रीव, यह राक्षस (विभीषण) दुष्ट हो या अदुष्ट हो; परन्तु यह सोचो कि क्या यह मेरा थोड़ा-सा भी अहित कर सकता है ? यदि मैं चाहूँ, तो पिशाचों, दानवों, यक्षों और पृथिवी के समस्त राक्षसों को एक उँगली के इशारे से ही मार सकता हूँ। मेरा यह व्रत (प्रण) है कि जो मेरी शरण में आए, उसे सब प्रकार अभयदान दूँ।

राम के मुख से ईश्वरीय शक्तियों के जाज्वल्यमान प्रकाश की निर्भय ज्योति जैसी इस स्थान पर प्रकाशित हुई है, वैसी अन्यत्र बहुत कम हुई है। लोकातिशायी शक्तियों से सम्पन्न हुए बिना किसी के मुँह से ऐसी बात नहीं निकल सकती। फिर राम-जैसे निगूढ़-मानी अनात्मश्लाघी पुरुषोत्तम के मुख से ऐसी बात निकलना तो आश्चर्य ही है। वस्तुतः युद्धकाण्ड के आरम्भ से ही राम की लोकातिशायिनी शक्तियों का स्फुट विकास दीख पड़ता है।

यह सब तो हुआ, परन्तु राम ने जब 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' इत्यादि कहकर विभीषण को अपने पक्ष में मिलाने की बात कही, तब सुग्रीव ने उछलकर उनका विरोध किया और कहा—

'सदुष्टो वाऽप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः ;

ईदृशं व्यसनं प्राप्तं भ्रातरं यः परित्यजेत्। ५।

को नाम स भवेत्तस्य यमेष न परित्यजेत्'। ६। यु०, १८

अर्थात् वह (विभीषण) दुष्ट हो या अदुष्ट हो, इससे क्या ? आख़िर है तो वह राक्षस ही । जो इस प्रकार की विपत्ति में अपने सगे भाई को छोड़ सकता है, उसका ऐसा और कौन लगता है, जिसे वह छोड़ न दे ।

अपने सगे भाई का वध कराके राजा बननेवाले सुग्रीव के मुँह से पूर्वोक्त बात कुछ बेतुकी बैठी । उससे बुद्धिमानी की अपेक्षा उनकी वानर-जाति सुलभ चपलता ही अधिक व्यक्त होती है । समुद्र-सम-गम्भीर राम को भी उनकी इस बात से थोड़ी-सी हँसी आ ही गई । परन्तु यह अवसर बड़ा विकट था । शत्रु पर चढ़ाई करने के समय अपने साथियों में ही मनमुटाव हो जाना अत्यन्त घातक होता । कड़वी हँसी मित्रता की विघातक होती है । यदि विभीषण अपनी मूर्खता पर राम को मुसकिराते देखते; तो अवश्य ही उनका मन मैला होता । इसलिये राजनीति के मार्ग में परम निपुण राम ने बात का रुख़ एकदम पलट दिया । उन्होंने मुसकिराते हुए सब लोगों की ओर देखा और लक्ष्मण से कहने लगे कि देखो सुग्रीव कैसे बुद्धिमान् हैं । इन्होंने बड़े मर्म की बात कही है । बिना अनेक शास्त्रों को नियम-पूर्वक पढ़े और बिना वृद्ध गुरुओं की सेवा किए भला कोई ऐसी बात कह सकता है, जैसी इन्होंने कही ।

'वानराधिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा सर्वानुदीक्ष्य तु । ६ ।

ईषदुत्स्मयमानस्तु लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ;

इतीहोवाच काकुत्स्थो वाक्यं सत्यपराक्रमः । ७ ।

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च ;

न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः' । ८ । यु०, १८ सर्ग

यदि वस्तुतः सुग्रीव ने नीति-शास्त्र का निचोड़ ही कह सुनाया होता, तब तो राम उनकी सलाह के अनुसार ही काम करते और विभीषण के टुकड़े उड़वा देते, परन्तु प्रकृत प्रशंसा का तात्पर्य सुग्रीव की शास्त्रज्ञता द्योतित करने में नहीं, बल्कि उनकी सम्भावित झेंप मिटाने में है। इसीलिये राम ने सुग्रीव को फिर समझाना आरम्भ किया और राजनीतिक दृष्टि से भी विभीषण को अपनाने का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि पड़ोसी, पट्टीदार और कुटुम्बी लोग (जो किसी सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं) शत्रुता करते हैं और विपत्ति पड़ने पर ही चोट करते हैं, यही कारण है कि रावण पर आनेवाली विपत्ति की सम्भावना से यह (विभीषण) यहाँ आया है। हम तो उसके कुल के हैं नहीं और उसे राज्य की कामना है, अतएव उसे हमसे कोई भय नहीं है और अपना काम बन जाने की आशा है, अतएव वह यहाँ आया है। उसके संग्रह करने में हमारी बुद्धिमानी ही प्रकट होगी। इसके अतिरिक्त इसे अपनाने से राक्षसों में यह विभीषिका फैल जायगी कि आगे महाविपत्ति आनेवाली है, इसीसे विभीषण उधर जा मिले हैं। साथ ही हम यदि विभीषण को आश्रय देंगे, तो लोग हमारे ऊपर विश्वास भी करने लगेंगे, इससे राक्षसों में परस्पर भेद-भाव फैल जायगा और बहुत-से हमारी ओर मिलना पसन्द करने

लगेंगे अथवा कम-से-कम रावण की ओर उतनी घनिष्ठता न रक्खेंगे, इससे विभीषण का अपनाना ही ठीक होगा। हे सुग्रीव, न तो सब भाई भरत के समान हुआ करते हैं, न सब पुत्र मेरे समान पिता के भक्त होते हैं और न सब मित्र तुम्हारे समान सौहार्द-सम्पन्न होते हैं।

'अमित्रास्तत्कुलीनाश्च प्रातिदेश्याश्च कीर्तिताः;
व्यसनेषु प्रहर्तारस्तस्मादयमिहागतः। १०।
न वयं तत्कुलीनाश्च राज्यकाङ्क्षी च राक्षसः;
पण्डिता हि भविष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषणः, । १३।
अव्यग्रश्च महानेषोऽन्योन्यस्य भयमागतम्;
इति भेदं गमिष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषणः। १४।
न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः;
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः'। १५। यु०, १८

यह कितना विचित्र संयोग था कि एक ओर तो राम को भरत-जैसे भाई मिले जो प्राण छोड़ने तक को तयार हैं, अपनी सगी माता का भी घोर तिरस्कार करने को तयार हैं, परन्तु अपने वैमातृक (सगे नहीं) भाई (राम) का राज्यसिंहासन छूना तक नहीं चाहते और दूसरी ओर उनके कृपा-पात्र दो मित्र हैं (सुग्रीव और विभीषण) जो दोनो ही अपने सगे भाइयों का वध कराके राज्यारूढ़ हुए हैं।

राम ने सुग्रीव को समझाने के बाद कहा कि हे कपिराज, जाओ तुम उसे मेरे पास ले आओ। चाहे विभीषण हो, अथवा

स्वयं रावण ही क्यों न हो, कोई चिन्ता नहीं। मैंने उसे शरणागत समझकर अभयदान दिया है।

'आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याऽभयं मया;

विभीषणो वा सुग्रीव, यदि वा रावणः स्वयम्' ।३४। यु०, १८ सर्ग

राम और वानर-दल के प्रकृत विवाद में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह कि राम और हनूमान् के अतिरिक्त सभी लोगों के विचार विभीषण को अपनाने के विरुद्ध रहे हैं। यदि सीता के द्वारा विभीषण-कन्या की बातें हनूमान् के कान में न पड़ी होतीं, तो कौन कह सकता है कि उनकी सम्मति भी आज औरों के ही समान न होती। यह भी कौन कह सकता है कि राम की सम्मति स्थिर होने में हनूमान् की कही हुई पिछली लङ्का की बातों का प्रभाव न पड़ा होगा। यह ठीक है कि प्रकट रूप से जहाँ इस विचार में और-और युक्तियाँ दी गई हैं, वहाँ राम या हनूमान् में से किसी ने भी कला (विभीषण-कन्या) की बात का उल्लेख करके विभीषण को अपना पक्ष-पाती नहीं बताया। ऐसा न करना ही राजनीतिक दृष्टि से उचित था। यदि यह गुप्त बात यहाँ असमय में प्रकट की गई होती, तो एक प्रकार से राजनीतिक मूर्खता होती।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभीषण ने या उनकी स्त्री ने पहले से ही सीता के पास अपनी कन्या को भेजकर जो-जो सन्देश या घटनाएँ सूचित कराई थीं, वह सब एक प्रकार से राजनीतिक दूरदर्शिता का कार्य था, जिसका फल

आज प्रकट हुआ है, जब विभीषण राम के पास मैत्री करने की इच्छा से आए हैं।

राम ने विभीषण को अपनाने का समर्थन करते हुए दो बातें प्रधान रूप से कही हैं। एक तो यह कि मैं समस्त दैत्य, दानव, राक्षस, पिशाच आदिकों का एक क्षण में विध्वंस कर सकता हूँ और दूसरी यह कि मैं शरणागत के समस्त दोषों को क्षमा करके उसे अभयदान देने को सदा उद्यत हूँ। ऐसे अतुल बलशाली और दयामय स्वामी को छोड़कर कोई दूसरे की सेवा करने कहाँ जायगा?

इन बातों को सुनकर उस समय वानर-सेना के हृदय में राम के प्रति श्रद्धा-भक्ति का सागर उमड़ पड़ा होगा। सब लोग राम की शक्ति और क्षमा को देख पुलकित हो उठे होंगे। आनन्दाश्रुभरित सहस्रों नेत्रों और प्रेम-गद्गद हज़ारों कण्ठों ने उन्हें धन्य-धन्य कहते हुए प्रणामाञ्जलि समर्पित की होगी। विभीषण के ऊपर प्रभाव पड़ने की बात तो आगे देखी जायगी। राम की उक्त बातचीत का पहला प्रभाव तो वानर-सेना के प्रत्येक सैनिक पर पड़ा होगा, जिसके कारण वह राम के नाम पर हँसते-हँसते प्राण न्यौछार करने को तयार हो गया होगा। इससे अधिक और क्या चाहिए? लोग तो 'एक बाण से दो चिड़ियों के मारने' की बहुत बड़ी तारीफ़ (लोकोक्ति में) किया करते हैं, परन्तु यहाँ राम ने तो एक ही युक्ति में लाखों को वश में किया है। इससे बढ़कर और राजनीतिज्ञता क्या हो सकती है?

जिस प्रकार चित्रकूट पर भरत का आना किसी दुर्भाव के कारण नहीं हो सकता था (इसकी विवेचना हो चुकी है), उसी प्रकार इस समय यहाँ विभीषण का इस प्रकार आना भी किसी कुटिल चाल से सम्भव नहीं था (पाठकगण इसके कारणों पर स्वयं सूक्ष्म दृष्टि डाल कर देखें) और अभी राम खुले शब्दों में अभयदान दे चुके हैं, फिर भी उन्होंने विभीषण को अपने दल में उस तरह नहीं मिला लिया, जैसे कोई महन्त किसी साधु को अपने यहाँ के भण्डारे में शामिल कर लिया करता है। उन्होंने विभीषण के सम्बन्ध में छान-बीन जारी रक्खी और आगे और भी सूक्ष्म परीक्षा की।

'राघवेणाभये दत्ते सन्नतो रावणानुजः ;
विभीषणो महाप्राज्ञो भूमिं समवलोकयत्। १।
खात्पपातावनिं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह ;
स तु रामस्य धर्मात्मा निपपात विभीषणः। २।
पादयोर्निपपाताथ चतुर्भिः सह राक्षसैः ;
अब्रवीच्च तदा वाक्यं रामं प्रति विभीषणः'। ३। यु०, १६ सर्ग

जब विभीषण को यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि राम ने उन्हें अभयदान दे दिया है, तब वे अपने साथियों-सहित आकाश से उतरे। राम के पास गए, उन्हें प्रणाम किया और बोले—

'अनुजो रावणस्याऽहं तेन चास्म्यवमानितः। ४।
भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः ;
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च। ५।

भवद्गतं च मे राज्यं जीवितं च सुखानि च'। ६। यु०, १३

मैं रावण का छोटा भाई हूँ। उसने मेरा अपमान किया है। मैं आपकी शरण आया हूँ। मैंने लङ्का, अपने मित्र और अपना धन सब छोड़ दिया है। मेरा राज्य, जीवन और सुख अब सब कुछ आप ही के हाथ में है।

विभीषण ने थोड़े शब्दों में सब कुछ कह दिया और फिर बड़ी ख़ूबसूरती से, निष्कपट-भाव के साथ। अपना स्वरूप, आने का कारण, वर्तमान अवस्था और मन की अभिलाष सभी बातें इने-गिने शब्दों में, कैसी सफ़ाई से कह डालीं। शब्द थोड़े होने पर भी कैसे भाव-पूर्ण, व्यङ्ग्य-भरे हैं? मैं रावण का छोटा भाई हूँ अर्थात् रावण के समस्त रहस्यों से परिचित हूँ। उसकी और उसके सन्तान आदि की कोई भी छिपी-से-छिपी माया, कुटिल चाल, और राक्षसीय जाल ऐसा नहीं है, जिसे मैं न जानता हूँ। फिर छोटा भाई हूँ अर्थात् मुझे और मेरी सन्तान को रावण के साथ रहकर कभी राज्याधिकार पाने की सम्भावना ही नहीं है। यदि कहो कि छोटा-बड़ा होना तो ईश्वर के हाथ की बात है। सब तो बड़े हो नहीं सकते, एक ही बड़ा होगा। आख़िर रावण बड़ा भाई है, पिता के तुल्य है, पालन-पोषण करता ही है। फिर उसका त्याग क्यों किया? इसका उत्तर देते हैं 'तेन चास्म्यवमानितः' उसने मेरा अपमान किया है। अर्थात् मैंने अपनी ओर से उसे नहीं छोड़ा, उसीने स्वयं मेरा तिरस्कार करके मुझे घर से निकाल दिया है। फिर यहाँ क्यों

आए ? यदि वैराग्य हो गया था, तो तपस्या करने गए होते और यदि क्रोध था, तो रावण से लड़े होते। अगले वाक्य में इसी का उत्तर है। 'भवन्तं सर्व' आपको शरणागत-वत्सल समझ-कर आपकी शरण में आया हूँ। आपको 'सर्वभूतशरण्य' सुना है। आप सब प्राणियों को शरण देनेवाले कहे जाते हैं। इसीसे त्राण पाने की इच्छा से आया हूँ। यदि मुझमें कोई दोष हो, तो वह भी मुझे शरणागत समझकर क्षन्तव्य है। शर-णागत के दोष देखना तो सज्जनोचित मार्ग नहीं है। उसको तो रक्षा करना ही धर्म है। यह भी बात नहीं है कि मैं कोई भूखा-नंगा रोटियों का मोहताज रहा हूँ। लङ्का में मेरे मित्र हैं (अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर मैं उनसे सहायता भी ले सकता हूँ) धन है, राज्य का अधिकार भी है, परन्तु इस समय सब छूटा है। इस समय तो मेरा जीवन भी आप ही के हाथ में है। इससे स्पष्ट है कि विभीषण ने यह स्पष्ट कह दिया कि मुझे वैराग्य नहीं है। खोई हुई सम्पत्ति का मुझे दुःख भी है और उसके फिर से प्राप्त करने की अभिलाषा भी है। साथ ही मुझमें इतना बल भी नहीं है कि अकेला रावण से भिड़ सकूँ। हाँ, आपकी सहायता होने पर अपने जीवन की आशा करता हूँ, अतएव मेरा जीवन और सुख आप ही के हाथ में है। सारांश यह कि मैं कोरा शरणागत ही नहीं हूँ, बल्कि आपके काम का भी हूँ। आपको लङ्का के रहस्य जानने की अपेक्षा है और मुझे बलिष्ठ की सहायता की। आपको रावण का

विजय करना है और मुझे अपना वैभव प्राप्त करना है। दोनो को दोनो की आवश्यकता है और मैं इस समय दीन होकर शरणागत के रूप में उपस्थित हूँ, अतः उपकृत होने पर यावज्जन्म आपका आभारी रहूँगा। शरणागत की रक्षा से आपको अनुपम यश भी मिलेगा और लङ्का-विजय में मुझसे सहायता भी मिलेगी इत्यादिक व्यङ्ग्य अर्थों पर ध्यान देने से विभीषण के उक्त वचन थोड़े होने पर भी बड़े सार-गर्भित प्रतीत होते हैं।

यह तो हुई विभीषण की बात। अब राम को देखिए कि वह क्या कहते हैं—

'तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामो वचनमब्रवीत्। ६।
वचसा सान्त्वयित्वैनं लोचनाभ्याम्पिबन्निव;
आख्याहि मम तत्त्वेन राक्षसानां बलाऽबलम्'। ७। यु०, १६

विभीषण जब आए, तो राम ने उन्हें इतनी गम्भीर दृष्टि से देखा कि मानो नेत्रों से उन्हें (विभीषण को) पी रहे हों। सब बातें सुनने के अनन्तर सान्त्वना देते हुए राम बोले कि तुम हमें राक्षसों का बलाऽबल ठीक-ठीक सुनाओ। इस पर वह सब सुनाने लगे। महर्षि वाल्मीकि के इस 'लोचनाभ्याम्पिबन्निव' में बहुत कुछ रहस्य छिपा है। राम ने ऐसे देखा, मानो वह विभीषण को नेत्रों से पी रहे हैं। जिस प्रकार पी हुई वस्तु पीनेवाले के पेट में पहुँच जाती है और उसे पीता हुआ पुरुष पेय वस्तु के अङ्ग-अङ्ग में छिपे रस आदि गुणों से परिचित हो जाता है, उसी प्रकार राम की तीक्ष्ण, गम्भीर दृष्टि ने

विभीषण के सब रहस्यों को जानने के लिये उन पर व्यापक आक्रमण किया।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के हृद्गत भाव (आनन्द, शोक, प्रेम, ग्लानि, शङ्का, दैन्य, सरलता, कुटिलता आदि) उसके चेहरे पर स्पष्ट प्रकट होते हैं और चतुर पारखी उसे देखते ही अपनी पैनी दृष्टि से तुरन्त ताड़ जाते हैं, परन्तु बहुत-से चतुर धूर्त भी ऐसे होते हैं, जो असलियत को बड़ी खूबसूरती से छिपा देते हैं और उनके चेहरे पर वही भाव प्रकट होते हैं, जिन्हें वह दिखाना चाहते हैं। असली भावों का कहीं सौ-सौ कोस तक पता नहीं चलता। परन्तु यह दुरङ्गी अवस्था बड़े यत्न-पूर्वक बनाई जाती है और उसी समय तक क़ायम रह सकती है, जब तक प्रयोक्ता का ध्यान उसकी ओर लगा रहे। यदि उसका ध्यान दूसरी ओर लीन हो जाय, तो बनावटी भाव चेहरे से उड़ जायँगे और असली हार्दिक भाव प्रकट होने लगेंगे।

राम ने विभीषण के चेहरे-मुहरे से, उनके रङ्ग-ढङ्ग से, नज़रो-अन्दाज़ से, चाल-ढाल से, कण्ठ-स्वर से, भ्रू-नेत्र-विकृति से, मुख की आकृति से, मुख के वर्णों से, मुख की बदलती हुई छाया से और बातचीत के ढङ्ग से अपनी तीक्ष्ण गम्भीर दृष्टि के द्वारा पता लगा लेने के बाद उनसे राक्षसों का बलाऽबल वर्णन करने को कहा। यह इतना लम्बा विषय था कि इस पर विभीषण को काफ़ी बोलना पड़ा और रावण, रावणि, कुम्भ-कर्ण आदि सभी के विषय में कुछ-न-कुछ कहना पड़ा। लङ्का

को व्यूह-रचना, दुर्ग-निर्माण आदि सभी रहस्य की बातें बतानी पड़ीं। यदि विभीषण ने अपने चेहरे पर किसी बनावटी भाव को दिखाने के लिये आकार-गोपन किया होता, तो इतनी गाथा गाने में कहीं-न-कहीं पोल अवश्य खुल जाती। फिर राम रावण के बलाऽबल की बातें सब हनूमान् से सुन भी चुके थे। यदि विभीषण कपट-रूप में आए होते और लङ्का की दुर्ग-रचना को हनूमान् की बातों के विरुद्ध किसी ऐसे रूप में राम से कहते, जिससे उनकी सेना विपत्ति में पड़ सकती हो, तो वह तुरन्त ताड़ जाते। इसीलिये राम ने अपने परीक्षित विषय पर ही उनसे सब कुछ सुनना चाहा। अन्त में राम ने कह भी दिया कि मैं ये सब बातें पहले से ही जानता हूँ। कोई पूछे कि यदि आप पहले से ही सब जानते थे, तो फिर विभीषण से यह पूरा 'सबक़ सुनने' की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः राम को राक्षसों का बलाऽबल सुनने के बहाने विभीषण की ही वास्तविक जाँच करना अभीष्ट था। विभीषण की सब बातें सुनने के बाद और सब प्रकार सूक्ष्म विचार कर लेने के बाद जब राम ने अच्छी तरह समझ लिया कि इनके मन में हमारी ओर से कोई पाप नहीं है, यह छली-कपटी नहीं हैं, अपितु वस्तुतः रावण के द्वारा तिरस्कृत हैं, इनकी प्रकृति राक्षसों से नहीं मिलती, यह धर्मात्मा हैं, साथ ही इनके मन में तिरस्कार का प्रतीकार करने की पूरी कामना और लङ्का का राज्य पाने की प्रबल इच्छा है। तब उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि हे विभीषण, मैं अपने तीनों

भाइयों की शपथ खाकर कहता हूँ कि रावण को मारकर तुम्हें राज्य दूँगा। रावण किसी प्रकार मेरे सामने से जीता न बच सकेगा।

'विभीषणस्य तु वचस्तच्छ्रुत्वा रघुसत्तमः;
अन्वीक्ष्य मनसा सर्वमिदं वचनमब्रवीत्। १७।
यानि कर्मापदानानि रावणस्य विभीषण;
आख्यातानि च तत्त्वेन ह्यवगच्छामि तान्यहम्। १८।
अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहानुजम्;
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतच्छृणोतु मे। १९।
रसातलं वा प्रविशेत्पातालं वापि रावणः;
पितामहसकाशं वा न मे जीवन् विमोक्ष्यते। २०।
अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रजनबान्धवम्;
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे'। २१। यु०, १९

जब राम ने यहाँ तक कठोर प्रतिज्ञा की कि 'सपुत्र जन बान्धव' रावण को बिना मारे मैं अयोध्या में प्रवेश नहीं करूँगा। तब विभीषण को अपना मनोरथ सफल होने का निश्चय हो गया और उन्होंने भी जी खोलकर वहीं वचन दिया कि मैं भी राक्षसों के वध और लङ्का के विध्वंस में आपकी जी-जान से सहायता करूँगा और अपने दम-में-दम रहते पूरी शक्ति से राक्षसों की सेना में घुसकर उसका ध्वंस करूँगा।

बात तय हो गई। दोनो की मनमानी मुराद पूरी हुई। राम उठे और उन्होंने विभीषण को गले लगाया। मित्रता का बन्धन

सुदृढ़ हो गया। लक्ष्मण को आज्ञा हुई कि समुद्र से जल लाकर विभीषण को लङ्का के राज्य पर अभिषिक्त कर दो। आज्ञा पूरी हुई। विभीषण राजा बना दिए गए। इस प्रकार राम ने इसी जगह विभीषण के हाथ-पैर चारो ओर से जकड़ दिए। उन्हें अब अपने राजा होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा। राम के पराक्रम को तो वह जानते ही थे। अब विभीषण युद्ध-क्षेत्र में राम की सहायता के लिये नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ के लिये ही लड़ेंगे। अपनी जान होम के पिल पड़ेंगे। सब गुप्त रहस्य तुरन्त बताएँगे। क्यों? राजा बनने के लिये। यहाँ से लङ्का पर चढ़ाई का रूप ही बदल गया। अब उसका उद्देश्य केवल सीता-प्राप्ति नहीं रहा, बल्कि उसके साथ विभीषण की राज्य प्राप्ति भी शामिल हो गई। महर्षि वाल्मीकि ने इस प्रकरण को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

> श्रुत्वा तु वचनं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ;
> शिरसा वन्द्य धर्मात्मा वक्तुमेवं प्रचक्रमे। २२।
> राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ;
> करिष्यामि यथाप्राणं प्रवेक्ष्यामि च वाहिनीम्। २३।
> इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम् ;
> अब्रवील्लक्ष्मणं प्रीतः समुद्राज्जलमानय। २४।
> तेन चेमं महाप्राज्ञमभिषिञ्च्य विभीषणं ;
> राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि मानद। २५।
> एवमुक्तस्तु सौमित्रिरभ्यषिञ्चद्विभीषणम्। २६। यु० १६

श्रीगुसाइं तुलसीदासजी ने इस प्रकरण की कथा में भी कुछ हेर-फेर कर दिया है और विभीषण का चित्र भी बदल दिया है। वाल्मीकि के अनुसार विभीषण-कन्या (कला) की बात का गुसाइंजी ने ज़िक्र नहीं किया। बल्कि लङ्का में ही विभीषण के साथ हनूमान् की भेंट करा दी। और वहीं उन्हें उनसे सीता का पता मालूम हो गया। वाल्मीकोय रामायण में ऐसा नहीं है। वहाँ हनूमान् को सीता की खोज में बड़ी सरतोड़ कोशिश करनो पड़ी है। सोते हुए रावण और उसकी सुख-सुप्त रानियों के समूह में भी उन्हें घुसना पड़ा है। वहाँ अनेक प्रकार की शराब-कबाब, भुक्तोच्छिष्ट विविध मांस और तरह-तरह की काम-केलियों का भो दर्शन तथा अनुमान उन्हें हुआ है। सोती हुई मन्दोदरी को देखकर उन्हें सीता का भ्रम भी हुआ है। वहीं उनकी वानर-जाति-सुलभ चपल प्रकृति का भी परिचय मिलता है और परम बुद्धिमत्ता का भी। कविता की दृष्टि से वाल्मीकीय का यह प्रकरण संस्कृत-साहित्य भर में अद्वितीय है। हम तो समझते हैं कि यदि विचार किया जाय, तो शायद यह संसार भर के साहित्य में बे-जोड़ निकले। परन्तु गुसाइंजी ने इसे उड़ा दिया। शायद भक्ति-भाव के विरुद्ध समझा हो। इसके स्थान में उन्होंने एक और कल्पना की है। उन्होंने लिखा है कि हनूमान् रावण के मन्दिर में गए। वह सो रहा था। सीता वहाँ नहीं दीखी। फिर एक दूसरा मकान दीखा, जिस पर चारो ओर राम-राम लिखा था,

तुलसी के बहुत पेड़ लगे थे। विष्णु का मन्दिर भी एक ओर बना था। हनूमान् सोचने लगे कि लङ्का में यह राम-भक्त कौन है! उसी समय विभीषण जाग पड़े (शायद लघुशङ्का लगी हो), जागते ही उन्होंने 'राम-राम' का 'सुमिरन' किया। हनूमान् ने सज्जन समझकर उनसे मिलने का निश्चय किया और ब्राह्मण का रूप धारण करके आवाज़ लगाई। सुनते ही विभीषण फ़ौरन् उठकर आ गए। बातचीत शुरू हो गई (शायद खड़े-ही-खड़े)। परिचय हुआ। दोनों राम-गुण-गान करके गद्गद हो गए। 'तब हनुमन्त कहा सुनु भ्राता, देखा चहउँ जानकी माता। जुगुति विभीषण सकल सुनाई। बस, विभीषण से सीता का पता और मिलने की युक्ति जानकर हनूमान् सीधे अशोक-वाटिका में जा धमके।

इस वर्णन से तो विदित होता है कि विभीषण के रहने का मकान बहुत मामूली था। राजभवन-जैसा तो वह कदापि नहीं था। उसमें भीतर सोते हुए आदमी का जागकर राम-राम करना बाहर खड़े आदमी को अच्छी तरह सुनाई पड़ सकता था। शायद विभीषण के पास कोई नौकर भी नहीं था। तभी तो हनूमान्‌जी की पुकार सुनकर वह स्वयं ही उठकर दौड़े आए। 'विप्र-रूप धरि वचन सुनाए, सुनत विभीषन उठि तहँ आए'। सम्भवतः उनके द्वार पर कोई पहरेदार भी नहीं रहता था। यदि होता, तो हनूमान्‌जी को स्वयं क्यों 'वचन' सुनाने पड़ते? उसी चपरासी के द्वारा अन्दर ख़बर भिजवाते। मालूम होता है,

विभीषण के सोने का कमरा लवे सड़क—आमरास्ते के किनारे—ही था। उसके आगे-पीछे कोई बाग़-बग़ीचा या घेरा नहीं था। तभी तो विभीषण ने हनूमान् से यह नहीं पूछा कि आप आधी रात के समय मकान के अन्दर घुस कैसे आए ? उक्त वर्णन से यह भी भासित होता है कि विभीषण अत्यन्त सरल प्रकृति के पुरुष थे। एकदम सीधे-सादे, राजनीतिक ज्ञान से बिलकुल कोरे केवल 'रामदास' थे। तभी तो लङ्का में आधी रात के समय पहुँचे इन ब्राह्मण देवता को देखकर उन्हें कोई सन्देह नहीं हुआ। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि सब तरह के जीवों का नैवेद्य लगानेवाले विकट राक्षसों की बस्ती में आप एकादशी का फलाहार पाने की इच्छा से पधारे हैं या किसी के श्राद्ध का भोजन पाने की इच्छा से ? उन्होंने यह भी नहीं जानना चाहा कि यहाँ के नर-भक्षी राक्षसों के बीच से आप जीते बचकर कैसे निकले ?

श्रीयुत गुसाईंजी ने विभीषण के गृह की जो रूप-रेख और नक़शा दिया है, उससे तो यही मालूम होता है कि उन्होंने विभीषण-भवन के स्थान में अपने ही निवास-स्थान का चित्र खींच दिया है और विभीषण के नाम से किसी कुटीचर साधु का स्वरूप अङ्कित कर दिया है, परन्तु वाल्मीकि के विभीषण ऐसे नहीं हैं। वह धर्मात्मा होने पर भी देखने में अपने नाम के बहुत कुछ अनुरूप ही हैं। उनका वैभव वैसा ही है, जैसा किसी त्रैलोक्य विजयी महाराजाधिराज के भाई का होना चाहिए और उनके विचार

भी वैसे ही हैं, जैसे किसी कूटनीतिज्ञ राजनीति-निष्णात चतुर नेता के होने चाहिए। हाँ, अति क्रूरता और जघन्य अत्याचारों से उन्हें कुछ घृणा अवश्य है; यों तो उन्होंने अपने सगे भाई-भतीजों का स्वयं ही वध कराया है और वह भी गुप्त भेद बता-बताकर।

वाल्मीकीय में विभीषण कितनी कठिनता से राम के पास पहुँचे और कैसे बातचीत आरम्भ हुई, यह तो आप देख ही चुके। गुसाईंजी के यहाँ इतनी दिक़्क़त नहीं हुई। जहाँ राम ने विभीषण को 'करत दण्डवत' देखा कि 'तुरत उठे प्रभु' और फ़ौरन् ही 'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा'। बातचीत में भी कोई राजनीतिक विचित्रता नहीं है। राम को विभीषण के पूजन-पाठ की ही विशेष चिन्ता है। कुशल-प्रश्न के बाद वह पूछते हैं कि 'खल-मण्डली बसहु दिन-राती। सखा, धरम निबहइ किहि भाँती ?' मानो विभीषण किसी कट्टर मुसलमानी रियासत में किसी मन्दिर के पुजारी हैं और उन्हें घण्टा-शङ्ख बजाने एवं तिलक-छाप लगाने आदि में बड़ी कठिनता पड़ रही है। गुसाईंजी के विभीषण बड़े भले आदमी हैं। बिलकुल शान्त—पिटने पर भी शान्त—मारनेवाले के भी पैरों पड़नेवाले, कभी कोई कड़ा शब्द मुँह से न निकालनेवाले 'सन्त' हैं, परन्तु रावण उनका बड़ा क्रूर, निर्दय, बल्कि साधारण सभ्यता से भी गिरा हुआ, पाजीपन की मूर्ति है। विभीषण बड़े नम्र शब्दों में सीता को लौटा देने की बात कहते हैं, परन्तु वह उन्हें गालियाँ देता

हुआ उठकर लातें मारता है। विभीषण पैर पकड़कर प्रणाम करने लगते हैं और तुलसीदासजी उनको 'सन्त' बताते हुए उनकी वकालत इस प्रकार करते हैं 'उमा, सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई।'

परन्तु वाल्मीकि के विभीषण बड़े मनस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी और अव्वल दर्जे के तेज़-तर्रार हैं। इन्होंने रावण की जैसे कड़े शब्दों में भर्त्सना की है, उसे देखकर एक बार रोमाञ्च हो जाता है और यह सन्देह होने लगता है कि रावण-जैसे उग्र-स्वभाव राक्षसराज के आगे इस प्रकार धृष्टता-पूर्ण व्यवहार करनेवाला जी कैसे रहा है? कहीं-कहीं तो यह निश्चय होने लगता है कि उन्होंने पहले ही राम के पास जाने का निश्चय कर लिया था, अन्यथा ऐसा कठोर व्यवहार न कर सकते।

यहाँ का रावण भी बहुत काफ़ी गम्भीर और कम-से-कम राक्षसों के प्रति परम सहिष्णु है। उसकी सभा भी इतनी प्रभाव-पूर्ण है कि बड़े-से-बड़े लोग—इन्द्रादिक देवता भी—दम साधे, हाथ बाँधे इङ्गित चेष्टित की प्रतीक्षा में खड़े रह सकें। यह रावण बिगड़ैल घोड़े की तरह इधर-उधर दुलत्तियाँ नहीं झाड़ा करता और चमारों के चौधरी की तरह कुवाच्य कहता हुआ किसी के लातें नहीं लगाता है।

विभीषण ने रावण से कहा था कि प्रदीप्त अग्नि के समान तीखे, राम के बाण रण में तेरा गला काटेंगे, मैं यह देखना नहीं चाहता, इसी से तुझे समझाता हूँ (इसी तरह की बहुत

बातें हैं)। इस पर रावण को शायद कुछ खटक गई। उसने कहा कि शत्रु से मिले हुए मित्र-रूपधारी के साथ रहना बहुत बुरा है। चाहें शत्रु के साथ रहे, चाहें क्रुद्ध सर्प के साथ रहे, परन्तु ऐसों के साथ कभी न रहे। हे राक्षस (विभीषण), मैं कुटुम्बियों का स्वभाव समझता हूँ। ये लोग अपने बान्धवों की विपत्ति में प्रसन्न होते हैं। प्रधान कार्यकर्ता, वैद्य, विद्वान्, धर्मात्मा और शूर पुरुष की निन्दा उसके कुटुम्बी किया करते हैं। ऊपर से मिले हुए प्रच्छन्नहृदय घोरकर्मा ज्ञाति के लोग (कुटुम्बी) आपत्ति के समय ही अपनी ज्ञाति के प्रधान पुरुष पर आक्रमण करते हैं। ये बड़े भयानक होते हैं। विभीषण, यदि किसी दूसरे ने मुझसे आज ऐसी बात कही होती, तो इसी क्षण उसकी खाल खिंचवा ली गई होती, परंतु तेरे-जैसे 'कुल-कलङ्क' को धिक्कार है।

"वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण च ;
न च मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना। २।
जानासि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस ;
हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा। ३।
प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस ;
ज्ञातयोप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च। ४।
नित्यमन्योन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः ;
प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः। ५।
योऽन्यस्त्वेवं विधं ब्रूयाद्वाक्यमेतन्निशाचर ;

अस्मिन्मुहूर्ते न भवेत्त्वां तु धिक्कुलपांसन। ६।" यु०, १६ सर्ग

विभीषण 'शत्रुसेवी' (शत्रु से मिले हुए) थे या नहीं, इसका विचार तो हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रावण के उक्त वाक्यों ने विभीषण के हृदय पर गहरी चोट पहुँचाई। यदि सभा में ये न कहे गए हों, तो सम्भव था कि उतना आघात न करते। शायद तीर निशाने पर लगा। इसी के बाद विभीषण अपने मन्त्रियों के साथ आकाश-मार्ग से उड़कर समुद्र-पार पहुँचे थे। किसी कुलीन स्त्री के व्यभिचार की बात दस आदमियों में फैल जाने पर यह भी सम्भव है कि वह लज्जा से डूब मरे, किसी को मुँह न दिखाए और यह भी सम्भव है कि फिर जी खोलकर खुल खेले और सीधी बाज़ार में पहुँचकर किसी बालाख़ाने पर जा बैठे। और बातों के साथ मेघनाद के मारे जाने में भी विभीषण का ख़ास हाथ था। यदि इन्होंने गुप्त रहस्य न बताया होता, तो उसका मारा जाना सम्भव नहीं था। राम-दल में हाहाकार मच चुका था। बड़े-बड़े सेनापतियों के छक्के छूट चुके थे। सभी मन्त्री भौचक्के-से होकर एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। राम को तो रोने और बेहोश होने के सिवा और कुछ सूझता ही न था। उधर लक्ष्मण धर्म के नाम पर सौ-सौ लानतें भेज रहे थे और कह रहे थे कि यदि संसार में 'धर्म' नाम की कोई वस्तु होती, तो राम-जैसे धर्मात्मा की आज यह दशा क्यों होती। यह वह समय था, जब मेघनाद ने रण में सबके देखते-देखते 'हा राम, हा लक्ष्मण'

चिल्लाती हुई सीता (नक़ली) के दो टुकड़े कर डाले थे। उस समय विभीषण ने ही इस डूबते हुए जहाज़ को सहारा दिया था। उन्हीं ने इस सबको माया-जाल और निर्विघ्न हवन करने के लिये मेघनाद की चाल बताया था। उन्हीं ने लक्ष्मण को साथ लेकर यज्ञस्थल पर पहुँचने से पहले ही मेघनाद का रास्ता रुकवाया था। जब मेघनाद ने वहाँ लक्ष्मण के साथ विभीषण को खड़ा देखा, तो तुरन्त समझ गया कि यह काम इसी 'घर के भेदी' का है। उस समय मेघनाद ने विभीषण को जो कड़ी और मार्मिक फटकार बताई है, वह इतिहास में एक अमर वस्तु है। उसने कहा था—

'इह त्वं जातसंवृद्धः साक्षाद् भ्राता पितुर्मम ;
कथं द्रुह्यसि पुत्रस्य पितृव्यो मम राक्षस । ११ ।
न ज्ञातित्वं न सौहार्दं न जातिस्तव दुर्मते ;
प्रमाणं न च सौंदर्यं न धर्मो धर्म-दूषण । १२ ।
शोच्यस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः ;
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः । १३ ।
नैतच्छिथिलया बुद्ध्या त्वं वेत्सि महदन्तरम् ;
क्व च स्वजन-संवासः क्व च नीचपराश्रयः । १४ ।
गुणवान् वा परजनः स्वजनो निर्गुणोपि वा ;
निर्गुणः स्वजनः श्रेयान् यः परः पर एव सः । १५ ।
यः स्वपक्षं परित्यज्य परपक्षं निषेवते ;
स स्वपक्षे क्षयं याते पश्चात्तैरेव हन्यते' । १६ । यु०, ८७ सर्ग

अर्थात् हे राक्षस, तुम यहीं जन्म से पाले-पोसे गए हो और मेरे पिता के सगे भाई हो। आज तुम मेरे पितृव्य (चचा) होकर पुत्र के (मेरे) साथ द्रोह कर रहे हो! तुम्हें न अपनी जाति का अभिमान है, न पुराने प्रेम की परख है, न जन्म या जन्मभूमि का ख़याल है। तुम इतने दुर्बुद्धि हो कि तुम्हें अपने सगे भाई की भी कोई पर्वाह नहीं और न धर्म का ही कुछ ध्यान है। तुम्हारी दशा शोचनीय है। तुम सज्जनों से निन्दनीय हो। आज तुम अपने भाइयों को छोड़कर दूसरे की दासता पसन्द कर रहे हो। तुम्हारी मन्द बुद्धि आज यह रहस्य समझने में असमर्थ है कि कहाँ स्वजनों के साथ रहना और कहाँ ग़ैरों की ग़ुलामी!! स्वजन चाहें कितना ही निर्गुण क्यों न हो, वह गुण-वान् 'पर' की अपेक्षा अच्छा होता है। 'पराया तो फिर पराया ही है'। जो अपना पक्ष छोड़कर पराए पक्ष का सहारा लेता है, वह अपने पक्ष का क्षय हो जाने पर फिर उन्हीं परपुरुषों द्वारा मारा जाता है।

बात बिल्कुल ठीक है। भारतवर्ष को तो आज पौने दो सौ वर्षों से इसके प्रत्यक्षर सत्य होने का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। यदि राम-जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम का सहारा न मिला होता और रावण को उच्छृङ्खल काम, क्रोध आदि अति जघन्य वृत्तियों ने निर्मर्याद न बना दिया होता, तो आज विभीषण के पक्ष में इसके बाद किसी प्रकार की सफ़ाई देने की कोई गुञ्जाइश ही न रह जाती।

विभीषण और रावण दोनो सगे भाई थे, परन्तु प्रकृति दोनो

की अत्यन्त भिन्न थी। विभीषण के स्वभाव को यदि 'मोम की नाक' कहा जाय, तो रावण के स्वभाव को फ़ौलादी सिरोही कहना पड़ेगा। विभीषण का व्यवहार अपने सजातीयों (राक्षसों) और भाइयों के प्रति कठोर है, परन्तु विजातीयों (राम आदि) के प्रति बहुत नम्र है। उधर रावण को देखिए, तो वह राक्षसों और अपने भाइयों के साथ परम उदार तथा सहिष्णु है, परन्तु दूसरों के लिये बिल्कुल बारूद का गोला है। रावण को जब राम के प्रति नम्र व्यवहार करने और सीता को वापस लौटाने की सलाह दी गई, तो उसने साफ़ कहा कि चाहें मेरे दो टुकड़े हो जाँय, परन्तु मैं किसी के आगे झुक नहीं सकता। 'अपि द्विधा विभज्येयं न नमेयं तु कस्यचित्'। देखा आपने? क्या फ़ौलादी स्वभाव है! बीच से टूट भले ही जायँ, परन्तु झुकना नहीं जानते। सीता को लौटाने में एक सबसे बड़ी अड़चन यह भी थी कि उससे रावण की शान में फ़रक़ पड़ता था, उसकी मूँछ नीची होती थी और उसकी आन-बान में कान आती थी। रावण अभिमान की मूर्ति और वीरता का अवतार था। उसके मारे जाने पर विभीषण ने रो-रोकर कहा है—

'वीर, विक्रान्त, विख्यात, प्रवीण, नयकोविद ;
महार्हशयनोपेत किं शेषे निहतो भुवि। ३।
गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः ;
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः सुहस्तानां गतिर्गता। ६।
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः ;

चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः'। ७। यु०, १११ सर्ग

रावण वीर था, पराक्रमी था, प्रसिद्ध, चतुर और नीति-निपुण था। विभीषण ने उसे नीति-निपुण लोगों का सेतु, धर्म का स्वरूप, बल का अवतार और निपुण शस्त्रधारियों का आश्रय ('सुहस्तानां गतिः') बताया है। उस समय व्याकुल विभीषण को समझाते हुए राम ने स्वयं कहा है—

'नैवं विनष्टाः शोच्यन्ते क्षत्रधर्मव्यवस्थिताः;
वृद्धिमाशंसमाना ये निपतन्ति रणाजिरे। १५।
येन सेन्द्रास्त्रयो लोकास्त्रासिता युधि धीमता;
अस्मिन् कालसमायुक्ते न कालः परिशोचितुम्'। १६। यु०, १११ सर्ग

हे विभीषण, इस प्रकार रण में वीरगति को प्राप्त होनेवाले लोग शोचनीय नहीं होते। जिस वीर ने युद्ध में इन्द्र-सहित तीनो लोकों को भय-विह्वल कर दिया था, वह यदि समय पाकर काल-कवलित हुआ है, तो उसके लिये शोकाकुल होने का कोई काम नहीं है। राम की बात सुनकर विभीषण बोले—

'योऽयं विमर्देष्वविभग्नपूर्वः सुरैः समस्तैरपि वासवेन;
भवन्तमासाद्य रणे विभग्नो वेलामिवासाद्य यथा समुद्रः। २१।
अनेन दत्तानि वनीपकेषु भुक्ताश्च भोगा निभृताश्च भृत्याः
धनानि मित्रेषु समर्पितानि वैराण्यमित्रेषु निपातितानि। २२।
एषो हिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यशूरः।
एतस्य यत्प्रेतगतस्य कृत्यं तत्कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात्। २३। १११

जो रावण इन्द्र-सहित समस्त देवताओं के साथ भी कभी

युद्ध में पराजित नहीं हुआ, वह आज आपके आगे उसी प्रकार शान्त हुआ जैसे वेला (समुद्र-तट) पर पहुँचकर समुद्र शान्त हो जाता है। इसने याचकों को खूब दान दिया, सब प्रकार के भोग किए और अपने भृत्यों का भली प्रकार भरण-पोषण भी किया। मित्रों को धन और शत्रुओं को विपत्ति दी। यह आहिताग्नि (अग्निहोत्र करनेवाला) है, महा तपस्वी है, वेद-वेदान्त का ज्ञाता और वीर-शिरोमणि है। मैं चाहता हूँ कि आपकी आज्ञा से इसका प्रेतकृत्य करूँ। राम विभीषण को इस काम के करने से रोक देते, इसकी तो सम्भावना ही कोई नहीं कर सकता, परन्तु विभीषण का मत ज़रा देर बाद ही पलट गया। जिस मुँह से वह अभी रोते-बिलखते हुए रावण की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, उसी मुँह से क्षण-भर बाद ही उसे गालियाँ देने लगे। वह बोले—

'त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशंसमनृतं तथा। ९३।

नाहमर्हासि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्;

भ्रातृरूपो हि मे शत्रुरेष सर्वाहिते रतः। ९४।

रावणो नार्हते पूजां पूज्योपि गुरुगौरवात्'। ९५। यु०, ११३ सर्ग

रावण धर्म से गया-बीता, क्रूर, नृशंस झूठा तथा परस्त्री का स्पर्श करनेवाला है। मैं इसका संस्कार नहीं कर सकता। यह भाई के रूप में मेरा शत्रु है। इसने सभी का अहित किया है। मेरा बड़ा भाई होने पर भी रावण आदर के योग्य नहीं है।

मालूम होता है रामायण के समय आजकल की पश्चिमी

सभ्यता की तरह लोग दूसरों की स्त्रियों के साथ हुमस के हाथ नहीं मिलाया करते थे। तभी तो विभीषण ने क्रूर, नृशंस और झूठे की श्रेणी में परस्त्री का स्पर्श करनेवाले को गिनाया है। यदि आज की-सी चमाचम सभ्यता उस समय होती, तब तो हम समझते हैं कि रावण सीता की चोरी करके इस प्रकार अपना सर्वस्व नाश करने की अपेक्षा राम के साथ दोस्ती गाँठ के सीता को मोटर या विमान पर बिठाके समुद्र की सैर कराने ले जाना ज्यादः ही पसन्द करता।

ख़ैर, असली मतलब पर आइए और यह सोचिए कि जो विभीषण अभी रावण की जी-खोलकर प्रशंसा कर रहे थे, उन्होंने इतनी जल्दी कैसे रंग पलट दिया? इससे इनकी प्रकृति का पता लगाइए और सोचिए कि इनकी दृष्टि में रावण क्रूर, नृशंस है या धर्मावतार? ये परस्पर विरुद्ध दोना बातें इन्हीं के श्रीमुख से निकली हैं। यदि यह कहा जाय कि पहली बात शोकावेग में मुँह से निकल पड़ी थी। वास्तव में धर्मात्मा विभीषण रावण को अछूत ही समझते थे। यदि यह ठीक था, तो आगे चलकर राम के कहते ही झट से विभीषण सब काम करने को कैसे तयार हो गए? जब राम ने कहा कि यह राक्षस यद्यपि अधर्म और अनृत से संयुक्त है, तथापि तेजस्वी है, बली है, रण बाँकुरा है, इन्द्रादिकों का विजेता और महात्मा है। प्राणियों का वैर 'मरणान्त' होता है। जब यह मर चुका, तो अब हमें इससे क्या वैर? हमारा काम हो चुका। अब यह

जैसा तुम्हारे लिये है, वैसा ही हमारे लिये है। यहाँ अन्तिम वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है, जिनके सुनते ही विभीषण ने रावण का अग्नि-संस्कार तुरन्त आरम्भ कर दिया था।

'अधर्मानृतसंयुक्तः कामं त्वेष निशाचरः। ६८।
तेजस्वी बलवान् शूरः संग्रामेषु च नित्यशः;
शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः। ६६।
महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः;
मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्। १००।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव। १०१।
राघवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणो विभीषणः। १०२।
संस्कारयितुमारेभे भ्रातरं रावणं हतम्'। १०३। यु०, ११३ सर्ग

कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रथम शोकावेग में विभीषण के मुँह से भ्रातृ-प्रेम-वश रावण के गुण निकल गए हों, परन्तु ज़रा सावधान होते ही उन्हें ध्यान आया हो कि मैंने राम के आगे उनके शत्रु का गुण-गान किया है, इससे कहीं यह असप्रन्न न हो जायँ और इसी से उन्होंने बात का रुख़ बदलकर रावण की निन्दा करनी आरम्भ कर दी हो। गुण और दोष तो सभी में होते हैं, परन्तु लोकोक्ति है कि मनुष्य के गुण मरने पर प्रकट होते हैं। रावण के गुण इस दशा में प्रकट हुए भी थे, परन्तु तुरन्त ही विलुप्त कैसे हो गए? कहीं विभीषण में 'जी हुज़ूरों' की-सी वृत्ति तो नहीं आ गई थी, जो 'हुज़ूर' का रुख़ देखकर ही बातें किया करते हैं। इस प्रकार के लोग तो सदा से थाली

के बैंगन, होते आए हैं। जब राम ने कहा कि अब हमारा काम हो चुका, मरने के बाद रावण के शत्र से हमें कोई वैर नहीं, तब विभीषण की सब धर्मभीरुता हवा हो गई। रावण को छूने में पाप लगने और लोकापवाद की सब बातें भुलाकर वह वही काम करने लगे। बात क्या है? हम कह नहीं सकते, जरा आप भी सोचिए।

यों तो कुम्भकर्ण भी रावण की इस हरकत (सीता-हरण) से खुश नहीं था। उसने भी क्रोध में आकर रावण को फटकारा था। उसने स्पष्ट कहा था कि यह काम तुम्हारे योग्य नहीं था। तुम्हें उचित था कि पहले ही हमसे सलाह लेते। जो आदमी पहले के कार्य पीछे और पीछे के कार्य पहले करता है, वह नीति-निपुण नहीं कहाता। तुमने विना विचारे यह अत्यन्त बुरा काम आरम्भ किया है। यही कुशल हुई कि राम ने तुम्हें वहीं ठिकाने न लगा दिया और तुम वहाँ से बचकर सकुशल लङ्का पहुँच गए इत्यादि। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी कुम्भकर्ण ने रावण का साथ नहीं छोड़ा। मतभेद होने पर भी वह उसी के लिये मरमिटा। मतभेद होना और बात है और उसके कारण शत्रु के साथ मिलकर अपने ही घर पर चढ़ाई कराना और घर के भेद बताकर अपने ही कुटुम्बियों का ध्वंस कराना कुछ और बात है।

विभीषण की चित्तवृत्ति देखने के बाद अब जरा रावण की चित्तवृत्ति की भी परीक्षा कीजिए। इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं

कि वह काम और क्रोध की जीती-जागती मूर्ति था। कामातिरेक के कारण ही उसने अपना सर्वनाश कराया था। क्रोध और अभिमान के कारण ही उसने न किसी की सलाह मानी और न किसी की रत्ती-भर भी पर्वाह की। उसे यह विश्वास ही नहीं था कि समुद्र पार करके कोई उसके पास तक पहुँच सकेगा। कामोद्रेक के कारण वह सीता को अनुकूल करने के उपायों में ही फसा रहा और राम की गति-विधि की ओर उसने पूरा ध्यान नहीं दिया। जब वानर-सेना समुद्र पार कर चुकी और लड़ाई छिड़ने में केवल एक रात बीच में बाक़ी रह गई, तब उसने सुग्रीव के पास सन्देश भेजा कि 'तुम राजकुल में उत्पन्न हुए हो, महाबली हो, ऋत्तरजस् के पुत्र हो, हमारा तुम्हारा पुराना सम्बन्ध है। हमारे साथ लड़ने में न तो तुम्हारा कोई प्रयोजन सिद्ध होता है और न तुम्हारी कोई विपत्ति ही टल सकती है। मैं तुम्हें भाई के समान मानता हूँ। यदि मैंने राम की भार्या का हरण किया है, तो इसमें तुम्हारा क्या हर्ज है? तुम किष्किन्धा लौट जाओ और याद रक्खो कि यह लङ्का बन्दरों के जीत सकने योग्य नहीं है। यहाँ देवता और गन्धर्वों की भी दाल नहीं गलने पाती, तब नर और वानर किस गिनती में हैं?' रावण के गुप्तचर शुक ने वानर-सेना में जाकर यह सन्देश सुग्रीव को सुनाया था—

'त्वं वै महाराजकुलप्रसूतो महाबलश्चर्क्षरजःसुतश्च ;
न कश्चनार्थस्तव नास्त्यनर्थस्तथापि मे भ्रातृसमो हरीश। १०।
अहं यद्यहरं भार्यां राजपुत्रस्य धीमतः ;

क्वि तत्र तव सुग्रीव किष्किन्धां प्रति गम्यताम् । ११ ।
नह्ययं हरिभिर्लङ्का प्राप्तुं शक्या हरीश्वर ;
देवैरपि सगन्धर्वैः किम्पुनर्नरवानरैः' । १२ । यु०, २०

रावण के इस सन्धिसन्देश में भी अभिमान की पुट पूरी तरह विद्यमान है। वह आज वानर-सेना के समुद्र पार कर लेने पर भी और विभीषण के फूट जाने पर भी इन सबको तुच्छ समझता है। इसके अतिरिक्त इस सन्देश का समय भी हाथ से निकल चुका है। आज यह सम्भव नहीं है कि राम की कृपा से राज्य पानेवाले और राम के बल को जाननेवाले सुग्रीव समुद्र पार करने के बाद उलटे लौट सकें। यदि यही सन्देश वालि-वध के पूर्व भेजा गया होता या वाली के साथ ही मिलकर सतर्कता-पूर्वक कोई कार्यवाही की गई होती, तो आज रामायण का नक़शा ही बदल गया होता, परन्तु कामी, क्रोधी और अभिमानी रावण यह न कर सका।

इन सब दोषों के रहते हुए भी रावण राक्षसों के प्रति क्रूर नहीं था। सजातीयों के साथ उसका व्यवहार उदारता-पूर्ण था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण विभीषण ही हैं। विभीषण ने उसके त्रैलोक्य-विजयी पुत्र (मेघनाद) का वध कराने में जितनी कोशिश की वह आप देख ही चुके, परन्तु रावण ने उसका बदला नहीं लिया। विभीषण अपने चार साथियों को लेकर राम से जा मिले थे। उनके पुत्र-कलत्र सब लङ्का में ही थे। यदि रावण चाहता तो उन सबकी खाल खिचवा सकता था,

उन्हें कोल्हू में पिलवा सकता था और यदि 'पाक-इसलाम' के क़ुरानी क़ायदों का पाबन्द होता, तो सबको 'संगसार' करा सकता था। परन्तु उसने यह कुछ नहीं किया। सच्चे वीर की तरह वह इन कायरता-पूर्ण कार्यों से घृणा करता रहा। वह अपने का राजा समझता था और विभीषण तथा उसकी प्रजा (सन्तान) को अपनी प्रजा मानता था। राजा में प्रजा से बदला लेने का भाव उसकी दृष्टि में अति जघन्य था। उसके लिये विभीषण चाहें कितना भी बुरा क्यों न हो, फिर भी वह उसकी प्रजा था और उसकी सन्तान तो रावण की निर्दोष प्रजा थी। वह अपनी प्रजा से बदला कैसे लेता? यदि ऐसा न होता तो यह सम्भव नहीं था कि रावण-वध के बाद तुरन्त ही विभीषण लङ्का के राजसिंहासन पर उचक के बैठ जाते, बल्कि वह अपने प्रत्येक बच्चे का नाम ले-लेकर आँसू बहाना शुरू करते और वाल्मीकि को इसके लिये भी एकाध अध्याय काला करना पड़ता। जैसे एक ओर मन्दोदरी अपने पति के लिये रो रही थी वैसे ही विभीषण भी अपनी पत्नी के लिये कहीं बिलखते होते। परन्तु रावण ने यह नृशंस-कार्य करना उचित नहीं समझा। सीता को भी एक वर्ष का समय उसने स्वयं ही दिया था। नक़ली सीता का वध (मेघनाद द्वारा) होने पर तो राम की वह दशा हुई थी, यदि कहीं रावण असली सीता का वध कर देता तब क्या होता? यह ठीक है कि आरम्भ में वह वैसा नहीं कर सकता था, परन्तु 'मरता क्या न करता'। अपना सर्वस्व नाश होते देख और अपनी

मृत्यु को सिर पर मँडराती देखकर वह यदि ऐसा करता तो उसे कौन रोक सकता था ? इन बातों से स्पष्ट है कि इस देश के पुराने राक्षस भी उन कामों से घृणा करते थे, जिन्हें आजकल की सभ्य-शिरोमणि कहानेवाली पश्चिमी जातियाँ बिना हिचकिचाहट के कर डालती हैं ।

आज न तो राक्षसराज रावण ही हैं और न कहीं विभीषणजी ही दीखते हैं, परन्तु अपनी-अपनी एक-एक बात दोनों छोड़ गए हैं, जिसे लोग आज भी समय-समय पर याद किया करते हैं । एक ने तो अपने अभिमान की शान में 'अपि द्विधा विभज्येय न नमेयं तु कस्यचित्' छोड़ा और दूसरे ने एक लोकोक्ति छोड़ी, जो अब भी कहीं-कहीं सुनाई देती है कि 'घर का भेदी लङ्का ढावे' ।

राम की राजनीति-निपुणता की बात तो हम कई बार कह चुके हैं । जब रावण के गुप्तचर (शुक, सारण) रूप बदलकर राम की सेना में भेद लेने पहुँचे, तो 'घर के भेदी' विभीषण ने ही उन्हें पहचाना और गिरफ़्तार करके राम के सामने पेश किया । वे लोग डरे और अपना प्राण-सङ्कट उपस्थित हुआ समझकर काँप उठे । यह तो आप जान ही चुके हैं कि रावण के गुप्तचर-प्रेषण का समय बीत चुका था । यह कार्य जो आज किया गया, वह बहुत पहले किया जाना चाहिए था । राम को अब इससे कोई भय नहीं था, अतएव उन्होंने हँसते हुए दोनों गुप्तचरों को प्राण-दान दे दिया और कहा, यदि तुमने सब सेना की जाँच-पड़ताल कर ली हो और हम लोगों की सावधानी समझ ली हो, तो अपनी

इच्छानुसार जा सकते हो और यदि कुछ देखना-भालना बाक़ी हो, तो अभी फिर देख सकते हो। यह विभीषण तुम्हें सब दिखा देंगे। तुम लोग अपने प्राणों के लिये कुछ भय न करो। एक तो तुम निहत्थे (न्यस्तशस्त्र) हो, दूसरे हमारे क़ैदी हो, तीसरे दूत हो, अतः वध के योग्य नहीं हो। तुम जाओ और राक्षसों के राजा से जाकर हमारी बात ठीक-ठीक इसी तरह कह दो कि जिस बल के भरोसे तुम हमारी सीता को चुरा लाए हो, उसे आज अपनी सेना और अपने बन्धु-बान्धवों-सहित यथेच्छ प्रकट करो। कल सवेरे हमारे बाण तुम्हारी लङ्का का और राक्षसों का विध्वंस आरम्भ करेंगे।

'यदि दृष्टं बलं सर्वं वयं वा सुसमाहिताः ;
यथोक्तं वा कृतं कार्यं छन्दतः प्रतिगम्यताम् । १८ ।
अथ किञ्चिददृष्टं वा भूयस्तद्द्रष्टुमर्हथः ;
विभीषणो वा कार्त्स्न्येन भूयः संदर्शयिष्यति । १९ ।
न चेदं ग्रहणं प्राप्य भेतव्यं जीवितं प्रति ;
न्यस्तशस्त्रौ गृहीतौ च न दूतौ वधमर्हतः । २० ।
वक्तव्यो रक्षसां राजा यथोक्तं वचनं मम । २२ ।
यद् बलं त्वं समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि ;
तद्दर्शय यथाकामं ससैन्यश्च सबान्धवः । २३ ।
श्वः काल्ये नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ;
रक्षसां च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया' । २४ । यु०, २५ सर्ग

इन वाक्यों से राम के अनन्त आत्मविश्वास और असीम

बलशालिता के साथ-साथ उनकी अपार दया और न्याय का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। यदि ये ही लोग किसी दूसरे की ओर से रावण की सेना में गए होते और इसी प्रकार पकड़े जाकर उसके सामने पेश किए गए होते तो इनकी क्या दशा होती, इसे ये खूब जानते थे। फिर ये दूत नहीं, गुप्तचर थे। रावण ने तो दूत को भी मरवा दिया था और राम आज गुप्तचरों को भी प्राण-दान दे रहे हैं। इससे इनके हृदय पर राम के बल और उनके स्वभाव के सम्बन्ध में क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसे आप स्वयं समझ लीजिए। इन लोगों ने वापस जाकर रावण के सामने राम के दल-बल का बड़ा भयानक चित्र खींचा था और सीता को लौटा देने की सलाह दी थी। परन्तु रावण तो फिर रावण ही था। काम और क्रोध का सदेह प्रतिनिधि था। उस पर क्या प्रभाव पड़ सकता था। 'द्रुमसानुमतः किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेपि ते चलाः'। हाँ, अन्य राक्षसों के मन पर इन लोगों की बातों ने अवश्य राम-नाम की छाप लगाई होगी।

राम के अपार बल और असीम साहस का पता तो उस समय चलता है जब एक ओर लक्ष्मण, रावण की शक्ति लगने के कारण, रण-भूमि में मूर्च्छित पड़े थे। वह शक्ति इतनी गहरी छाती में गड़ गई थी कि उसे खींचने की किसी को हिम्मत नहीं पड़ती थी। इधर लक्ष्मण के प्राणों का भय और उधर भीमकाय शक्ति की दृढता देखकर सभी किंकर्तव्यविमूढ़ थे। उस पर रावण अपने अमोघ बाणों की अविरत वर्षा से प्रत्येक सैनिक

के रोम-रोम को वेध रहा था। किसी को दम मारने का मौक़ा न दे रहा था। उस समय राम ने आगे बढ़कर उस शक्ति का स्पर्श करके उसकी दृढ़ता, गम्भीरता आदि की जाँच की। इसी समय रावण सबको छोड़कर पूरे वेग से इन्हीं के ऊपर बरस पड़ा। इन्हें उसके बाणों को काटने या बचाने का अवसर नहीं था। इनका चित्त उस शक्ति के उद्धार में एकाग्र था। राम का शरीर रावण की बाण-वर्षा से लोहू-लुहान हो रहा था। नीचे से ऊपर तक रुधिर की धाराएँ बह रही थीं, परन्तु इन्होंने बड़ी धीरता से वह सब सहन करते हुए एकाग्रचित्त होकर बड़े बल से उस शक्ति को लक्ष्मण की छाती से खींचा। सिर्फ़ खींचा ही नहीं, बल्कि सबके देखते-देखते उसके दो टुकड़े कर दिए। उस समय मूर्च्छित लक्ष्मण को हृदय से लगाते हुए राम ने आँखों में आँसू भरकर जो कुछ कहा था, वह इतिहास में अद्वितीय है। उन्होंने हनूमान् और सुग्रीव आदि से कहा कि आप सब लोग लक्ष्मण को घेरे हुए बड़ी सावधानी से इनकी रक्षा कीजिए। मेरे साथ किसी के आने की आवश्यकता नहीं। आप लोग खड़े-खड़े तमाशा देखिए। आज बहुत दिनों में मेरा मनोरथ पूरा हुआ है। आज मेरे पराक्रम दिखाने का चिरवाञ्छित अवसर आया है। आज इस पापात्मा का दर्प दलन करना है। आप लोग निश्चित रहें मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, थोड़ी ही देर में आप देखेंगे कि इस जगत् में या तो राम ही शेष रहेंगे या रावण ही रहेगा।

'तां कराभ्यां परामृश्य रामः शक्तिं भयावहाम् ;

यशंश्च समरे क्रुद्धो बलवान् विचकर्ष च । ४३ ।
तस्य निष्कपतः शक्तिं रावणेन बलीयसा ;
शराः सर्वेषु गात्रेषु पातिता मर्मभेदिनः । ४४ ।
अचिन्तयित्वा तान् बाणान् समाश्लिष्य च लक्ष्मणम् ;
अब्रवीच्च हनूमंतं सुग्रीवं च महाकपिम् । ४५ ।
लक्ष्मणं परिवार्यैवं तिष्ठध्वं वानरोत्तमाः ;
पराक्रमस्य कालोयं संप्राप्तो मे चिरेप्सितः । ४६ ।
पापात्मायं दशग्रीवो वध्यतां पापनिश्चयः । ४७ ।
अस्मिन्मुहूर्ते न चिरात्सत्यं प्रतिश्रृणोमि वः ;
अरावणमरामं वा जगद् द्रक्ष्यथ वानराः' । ४८ । यु०, १०१

उस भीषण समय में ऐसी अलौकिक दृढता दिखाना राम का ही काम था। यहाँ राम वीर-रस की मूर्ति के रूप में दीखते हैं। इसके बाद राम ने जो घोर कदन आरम्भ किया है तो फिर रावण को उस दिन उनके आगे से भागकर ही प्राण बचाने पड़े थे।

जिस प्रकार किसी भले आदमी को देखने पर नाई की नज़र सबसे पहले उसकी हजामत पर जाती है और चमार की उसके जूतों पर, उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से विचार करनेवालों की दृष्टि और सब बातें छोड़कर केवल स्वार्थ और कूट-नीति पर पहले पड़ती है। स्वार्थ-साधन और लोक-संग्रह यही दो राजनीति के मुख्य लक्ष्य हैं। आप अपने स्वार्थ से न चूकें और फिर भी अधिक-से-अधिक लोग आपको अच्छा समझते रहें, बस यही तो राजनीति का सार है। कहीं-कहीं इन दोनो में

विरोध आ पड़ता है। एक को सम्हालने से दूसरा बिगड़ता है। उस समय किसे अपनाना और किसे छोड़ना चाहिए, इसीमें मतभेद है। जहाँ तक हो सके दोनों ही बनने चाहिएँ। परन्तु जब न बन सकें, तो क्या किया जाय? बस, यहीं से राम और रावण की लाइन बदलती है। एक अपना स्वार्थ-साधन करने के लिये लोक-संग्रह की पर्वाह न करके अधिक-से-अधिक लोकोपमर्द करने को तयार है और दूसरा लोक-संग्रह करने के लिये अधिक-से-अधिक स्वार्थ-त्याग करने को तयार है। चाहे राज्य छोड़ना पड़े, चाहे माता-पिता और भाई-बन्धु छोड़ने पड़ें, चाहे देश छोड़ना पड़े, चाहे वन-वन भटकना पड़े और पुत्र-कलत्र भी छोड़ने पड़ें, परन्तु लोक-संग्रह बना रहे, लोकापवाद और लोकोपमर्द न होने पाए, यही तो राम की नीति की विशेषता है। अब आपकी इच्छा पर निर्भर है कि चाहे जिसकी नीति अपनाएँ। चाहे लोक-संग्रह के लिये स्वार्थ-त्याग करके राम बन जाइए और चाहे स्वार्थ-साधन के लिये लोकोपमर्द करके रावण बन जाइए। 'येनेष्टं तेन गम्यताम्'।

लङ्का-विजय के बाद विभीषण राजा बना दिए गए। लङ्का के राज्य-सिंहासन पर लक्ष्मण ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। इसके अनन्तर विभीषण फिर राम के पास वानर-दल में पहुँचे। उनके सामने राम ने हनूमान् से कहा कि महाराज विभीषण की आज्ञा लेकर सीता के पास जाओ और कुशल-मङ्गल के साथ सबान्धव रावण के वध एवं विभीषण के राज्यारोहण

का हाल उन्हें सुनाओ। जो कुछ सन्देश वह भेजें, उसे लेकर शीघ्र लौटो। यह सब हुआ। देवी सीता ने राम के दर्शन की कामना प्रकट की। हनूमान् ने लौटकर राम से इन शब्दों में प्रार्थना की—

'यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां यः फलोदयः ;

तां देवीं शोकसन्तप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम्' । २ । यु०, ११६

अर्थात् जिनके लिये यह सब उपद्रव खड़ा हुआ था, इस महा समारम्भ का जो अन्तिम फल हैं उन शोक-सन्तप्त देवी सीता से अब आपको भेंट करनी चाहिए। राम को हनूमान् की उक्त बात सुनकर प्रसन्नता के बदले उलटा विषाद हुआ। सिर नीचा हो गया, दीर्घ निश्वास आरम्भ हो गया। वह विभीषण से बोले कि स्नात और अलङ्कृत सीता को यहाँ भेजो। सीता ने विभीषण की बात सुनकर कहा कि मैं इसी दशा में राम के दर्शन करना चाहती हूँ, परन्तु विभीषण के यह कहने पर कि 'भर्ता की आज्ञानुसार ही आपको करना चाहिए' वह मान गईं। विभीषण उन्हें सादर सवारी में बिठाकर लाए। उनका आना सुनकर राम को हर्ष नहीं हुआ, बल्कि इतने दिनों तक उनके राक्षस-गृह में बसने के कारण क्रोध और ग्लानि उत्पन्न हुइ। जब वहाँ पर्दे के ख़याल से लोग दूर हटाए जाने लगे तो राम बिगड़ उठे। वह बोले कि मेरे होते हुए आज इन मेरे आदमियों को सताया जा रहा है। ये सब मेरे बान्धव हैं, विपत्ति के सहायक हैं। यज्ञ, विवाह और विपत्ति में स्त्रियों का

पर्दे से बाहर आना दोषाधायक नहीं होता। सीता आज विपत्ति में हैं। फिर ख़ासकर मेरे रहते हुए तो उन्हें पर्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सवारी छोड़कर पैदल मेरे पास आएँ।

राम की इन बातों से लक्ष्मण, सुग्रीव और हनूमान् के हृदय को चोट पहुँची। सीता पैदल ही आईं। वह लज्जा के मारे गड़ी जा रही थीं। आश्चर्य, हर्ष और प्रेम से उनका हृदय पूरित था। वह अत्यन्त नम्रता-पूर्वक राम के समीप आकर बैठ गईं। उस समय राम ने अपने हृदय में धधकते हुए ज्वालामुखी का उद्गार निकालना आरम्भ किया। सीता को समीप बैठी देखकर लोकापवाद के भय से उनका हृदय फटा जा रहा था। उन्होंने बड़े आवेश, उद्वेग और क्षोभ से कहना आरम्भ किया कि हे सीते, आज रावण का वध करके मैंने अपना अपमान और शत्रु इन दोनो को धराशायी किया है। पौरुष से जो कुछ करना सम्भव था, वह सब मैं कर चुका। इन मित्रों की सहायता से मैं इस रण-सागर के पार पहुँचा हूँ। परन्तु यह मत समझना कि यह सब तुम्हारे वास्ते किया गया है। यह सब मैंने अपनी मान-मर्यादा, कुल-प्रतिष्ठा और यश की रक्षा के लिये किया है। तुमसे मेरा कोई मतलब नहीं। ये दसो दिशाएँ खुली हैं। जिधर तुम्हारा जी चाहे, चली जाओ। दुखती आँखवाले को जैसे सामने रक्खा दीपक बुरा लगता है, उसी प्रकार आज तुम मुझे असह्य हो। तुम पराए घर में इतने दिनों तक रह चुकी हो। तुम्हारे चरित्र पर सन्देह हो चुका है, रावण

के शरीर से तुम्हारा स्पर्श हो चुका है, उसकी बुरी दृष्टि तुम पर पड़ चुकी है, अब मैं तुम्हें अपनाकर अपना कुल कलङ्कित करना नहीं चाहता। युद्ध जिसलिये मैंने आरम्भ किया था, वह काम हो चुका। तुमसे मुझे कुछ मतलब नहीं। जहाँ तुम्हारा जी चाहे, चली जाओ। मैं ये सब बातें सोच-समझकर कह रहा हूँ। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव या विभीषण इनमें से जिसके साथ तुम्हारा जी चाहे, चली जाओ। रावण-जैसा राक्षस अपने घर में तुम्हारा यह दिव्य रूप देखकर किस प्रकार क्षमा कर सकता था?

जिस समय की ये बातें हैं, उस समय राम का स्वरूप काल के समान विकराल हो रहा था। उनसे बात करना तो दूर, उनकी ओर ताकने तक की किसी की हिम्मत न होती थी। लक्ष्मण क्रोध और लज्जा से विह्वल हो रहे थे। विभीषण और सुग्रीव शर्म से गड़े जा रहे थे। इस अनहोनी घटना से वानर-सेना भौचक्की-सी हो रही थी। किसी को कुछ सूझता ही न था। राम ने किनारे लाकर नाव को डुबाना आरम्भ कर दिया था। भगवती सीता का हृदय इन वाग्बाणों से टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। वह राम के इन अरुन्तुद वचनों से लज्जा के मारे पृथ्वी में धसी जा रही थीं। उनका तन और मन मारवाड़ के गरम रेत में पड़ी मछली के समान झुलस रहा था। इतने लोगों के बीच में अपना ऐसा घोर अपमान होते देख उन्हें मनुष्य-जीवन से

घृणा हो रही थी। लोगों में एकदम सन्नाटा था। दिशाएँ शून्य थीं। आकाश निःस्तब्ध था। बहुत कुछ आँसू बहाने के बाद अपने को अपने आप किसी तरह सम्हालकर सीता ने साश्रु-नयन और गद्गद कण्ठ से इस प्रकार कहना शुरू किया—

हे वीर, तुम यह क्या बोल रहे हो? जैसे कोई गँवार किसी गँवारी से बात कर रहा हो, उस तरह यह क्या कह रहे हो? अनुचित कर्ण-कठोर वचन मुझे क्यों सुना रहे हो? मैं वैसी नहीं हूँ, जैसा कि तुम मुझे समझ रहे हो। मेरे चरित्र का विश्वास तुम अपने चरित्र के समान ही कर सकते हो। अपने गरेबान में मुँह डालकर देखो, यदि तुम्हें अपना चरित्र कलुषित प्रतीत होता हो, तभी तुम मेरे ऊपर आशङ्का कर सकते हो। तुम साधारण स्त्रियों की तरह मेरे ऊपर सन्देह कर रहे हो। यदि तुमने इतने दिनों साथ रहने पर मेरा पूरा परिचय और परीक्षा प्राप्त कर ली हो, तो इस समय यह ऐसी शङ्का क्यों? आज तुम मुझे त्यागकर इच्छानुसार चले जाने का आदेश दे रहे हो। यदि यही करना था, तो जब हनूमान् को लङ्का में मेरे पास भेजा था, उसी समय यह बात क्यों न कहला दी? यदि ऐसा करते तो अपने प्राणों को विकट संकट में डालकर घोर रण में यह व्यर्थ परिश्रम क्यों करना पड़ता? आज हज़ारों आदमियों के सामने मुझे बदनाम कर रहे हो। तुमने क्रोध के वश में पड़कर एक तुच्छ मनुष्य के समान, केवल स्त्रीत्व ही प्रकट किया है। महाराज जनक मेरे पिता के

रूप से प्रसिद्ध हैं, परन्तु उत्पत्ति मेरी पृथ्वी-तल से हुई है। मेरे वृत्त और चरित्र पर तुमने कुछ ध्यान नहीं दिया, मेरी भक्ति और शील-स्वभाव सब एकदम भुला दिए एवं विवाह के समय अग्नि को साक्षी करके जो मेरा हाथ पकड़ा था, उसकी तनिक भी लाज न रक्खी। इस प्रकार कहती हुई सीता ने एक और दीन-मलीन मुख किए चिन्ता-मग्न बैठे लक्ष्मण से प्रार्थना की कि तुम मेरे लिये चिता तयार करो! वही मेरी इस विपत्ति की औषधि है। मैं इस मिथ्या अपवाद को सहकर जीना नहीं चाहती। लक्ष्मण ने सीता की बात सुन अमर्ष-भरे नेत्रों से राम की ओर देखा। अनुमति पूर्ण इशारा पाकर उन्होंने चिता चुनकर तयार कर दी।

समुद्र किनारे के मैदान की प्रबल वायु लगते ही क्षण-भर में चिता धधक उठी। देखते-ही-देखते प्रचण्ड पावक की विकराल ज्वालाएँ आसमान से बातें करने लगीं। कलेजा कुचलनेवाली किसी सम्भावित विपत्ति की आशङ्का से लोगों के हृदय धड़कने लगे। सिर नीचा करके बैठे हुए राम की प्रदक्षिणा करके सीता चिता के पास पहुँचीं और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मन से, वचन से, शरीर से, जागते में या स्वप्न में यदि मैंने राम के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष में भूल से भी पति-भाव किया हो, तो हे जगत् के कर्मों के साक्षी अग्नि देव तुम मेरे इस अङ्ग को भस्म कर दो। और यदि मेरा हृदय किसी भी दशा में राम से अलग न हुआ हो, तो तुम मेरी रक्षा करो। यदि मैं शुद्ध चरित्र हूँ, तो तुम मेरी रक्षा

करो। इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के अनन्तर सीता देवी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एकदम निःशङ्क हृदय और प्रसन्न मुख उस प्रचण्ड चिता में कूद पड़ीं। इस हृदय-विदारक दारुण दृश्य को देखकर वहाँ खड़ी स्त्रियों में (शायद ये सब लङ्का-निवासिनी रही हों) हाहाकार मच गया। सीता को सबने चिता में गिरते हुए उसी प्रकार देखा, जैसे मन्त्रों से संस्कृत 'वसोर्धारा' (घृत की अविच्छिन्न धारा) यज्ञ-कुण्ड में गिरती है।

सन्देह के समय विशेष वैदिक अनुष्ठान के द्वारा परीक्षा करने की प्रक्रिया भारत में अभी थोड़े समय—६०-७० वर्ष पूर्व तक प्रचलित थी। इन अनुष्ठानों को 'दिव्य' या 'विजय' के नाम से पुकारते थे। तुलाधिरोहण, तप्त पिण्डग्रहण और चिताधिरोहण आदि इनके अनेक प्रकार थे। हमने अपने पूज्यपाद श्रीगुरुजी महाराज से सुना है कि किसी राजा को अपनी स्त्री के सम्बन्ध में सन्देह हुआ। वह इसी प्रकार के अनुष्ठान द्वारा परीक्षा करने के अभिप्राय से काशी आया। वैदिक ब्राह्मणों की मण्डली जमा हुई। अनुष्ठान आरम्भ हुआ। विशेष विधि के साथ एक लोहे का गोला खूब तपाया गया। एक पीपल के पत्ते पर कुछ लिखकर और उसे अभिमन्त्रित करके स्त्री के हाथ पर रक्खा गया। उसके ऊपर से वह गरम लोहे का गोला रक्खा गया। पत्ता भी जलने लगा और उसका हाथ भी। स्त्री घबराई और गोला गिर पड़ा। लोगों ने समझा कि स्त्री दूषित है, सन्देह ठीक है, परन्तु वह स्त्री बड़ी दृढ़ थी। उसने कहा कि आप लोगों

के अनुष्ठान में कोई त्रुटि हुई है। मेरे ऊपर सन्देह नितान्त निर्मूल है। मैं बिलकुल निष्पाप हूँ। आप फिर से अनुष्ठान कीजिए। फिर विचार आरम्भ हुआ। कर्मकाण्डियों को अपने अनुष्ठान में कोई त्रुटि न दिखाई दी। तब एक बड़ी सभा हुई। उसमें कर्मकाण्डियों के साथ अन्य शास्त्रों के पण्डित भी जमा हुए। फर विचार हुआ, उस दाक्षिणात्य स्त्री ने निर्भय और निःशङ्क होकर सबके सामने अपना बयान दिया। उस समय एक वृद्ध पण्डित ने, जो बड़े ध्यान से उसकी ओर देख रहे थे, और कर्म-काण्डियों की बातें भी सुन रहे थे, कहा कि आप लोग फिर से अनुष्ठान आरम्भ कीजिए। तप्त गोला जब हाथ पर रक्खा जाय, तब मैं संकल्प पढ़ दूँगा। बात मान ली गई।

अन्त में उसी तरह गोला रखने पर स्त्री का हाथ नहीं जला। वह उस गरम गोले को हाथ पर रक्खे हुए चारो ओर घूम-घूम-कर लोगों को दिखा आई और अपनी निर्दोषता सिद्ध कर आई। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा भी चकित था। उसने वृद्ध पण्डितजी से पूछा कि आपने क्या संकल्प पढ़ा था। उन्होंने सीधे स्वभाव से बता दिया कि केवल एक शब्द का भेद था, जो आवश्यक था। बात यहीं समाप्त हो गई और वह स्त्री निर्दोष सिद्ध हो गई। इसी प्रकार 'धर्मतुला' पर एक ओर पीपल का पत्ता और दूसरी ओर अभियुक्त बैठता था। तराज़ू का पल्ला देखकर निर्णय होता था। यदि अभियुक्त ऊपर उठे और पीपल का पत्ता भारी रहे, तो परीक्षा में पूर्ण अङ्क मिलते थे। चिता-

धिरोहण की बात तो आप देख ही चुके। इसी प्रकार और भी परीक्षाएँ थीं, परन्तु आज अँगरेजी सरकार की कृपा से पश्चिमी सभ्यता के प्रबल प्रवाह में ये सब प्राचीन भारतीय वैभव बहे चले जा रहे हैं। सब विद्याएँ विलुप्तप्राय हो गई हैं। आज तो इन प्राचीन कर्मकाण्डों के कठिन पचड़े में सिर खपाने की अपेक्षा नवीन सभ्य लोग पतलून पहनकर खड़े-खड़े लघुशङ्का करने में ही अधिक गौरव अनुभव करते हैं।

हाँ, तो सीता सबके देखते-देखते वह्नि-कुण्ड में प्रवेश कर गईं। बड़ा हाहाकार मचा। उसी समय देवताओं के दर्शन हुए। ब्रह्मा ने सबसे आगे बढ़कर ज़रा डपटते हुए, राम से कहा कि तुम सीता की उपेक्षा कर रहे हो, अपने स्वरूप को भूले हुए हो। अपने को देवताओं में श्रेष्ठ नहीं समझते। राम बोले कि मैं तो अपने को दशरथ का पुत्र मनुष्य-मात्र राम समझता हूँ; और कुछ नहीं। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यह मैं कुछ नहीं जानता। भगवान् (आप) कृपा करके बताएँ। इस पर ब्रह्माजी ने विस्तार से बताया कि आप विष्णु के अवतार हैं।

(ब्रह्मा) 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ;
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने ।
कथं देवगणश्रेष्ठ मात्मानं नावबुध्यसे' । ६ ।

(रामः) 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ;
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे'। ११ ।

(ब्रह्मा) 'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधःप्रभुः । १३ ।

शार्ङ्गधन्वा हृषीकेषः पुरुषः पुरुषोत्तमः' ।१५। यु०, ११६ सर्ग

इसके अनन्तर नर-रूपधारी अग्नि ने स्वयं सीता को राम के पास लाकर कहा कि सीता सर्वथा निष्पाप हैं। इनमें किसी प्रकार का कल्मष नहीं है। विशुद्ध-भाव निष्पाप सीता को स्वीकार करो। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब आगे सीता से कुछ न कहना।

'एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते। ५।
नैव वाचा, न मनसा, न बुद्धया, नच चक्षुषा। ६।
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ;
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते' ।१०। यु०, १२०

यह तो हुई देवताओं की बात। अब जरा राम के मन की बात भी सुनिए। जो राम अभी कुछ क्षण पहले कराल काल-भैरव का रूप धारण किए हुए क्रोध से सभी को कम्पायमान कर रहे थे, वह क्या सीता के वस्तुतः दूषित होने के कारण, या किसी अन्य कारण से? जरा इसकी परीक्षा तो कीजिए। वह कहते हैं—

'अवश्यं त्रिषु लोकेषु सीता पावनमर्हति ;
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तः पुरे शुभा। १३।
बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः ;
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि। १४।
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ;
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम्। १५।

नच शक्तः स दुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम् ;
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव । १७ ।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा । १८ ।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा'। १६ । यु०, १२०

अर्थात् मैं जानता हूँ कि सीता तीनो लोकों में पवित्र हैं। मुझे यह भी मालूम है कि सीता का हृदय मेरे अतिरिक्त और कहीं नहीं जा सकता। मैं यह भी समझता हूँ कि पापी रावण सीता के धर्षण (आक्रमण) की कामना कभी मन में भी नहीं ला सकता था। सती सीता अपने तप से ही सुरक्षित हैं। जिस प्रकार सूर्य से उसकी दीप्ति अलग नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सीता मुझसे पृथक् नहीं की जा सकती। जैसे कोई भी मनस्वी पुरुष अपनी कीर्ति का त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी कभी सीता का परित्याग नहीं कर सकता। परन्तु इस प्रकार सीता की परिशुद्धि किए विना यदि मैं उन्हें स्वीकार कर लेता, तो लोग यही कहते कि राम बड़े मूर्ख हैं। वह अत्यन्त कामी हैं। दशरथ के पुत्र होने पर भी उन्हें अपने कुल का कुछ ध्यान नहीं। उन्होंने दीर्घ काल तक रावण के अन्तःपुर में रही हुई सीता को, विना सोचे-विचारे, केवल कामीपन के कारण अपने घर में रख लिया। केवल इस लोकापवाद से बचने के लिये ही मैंने सीता की अग्नि-परीक्षा की है, अपने सन्तोष के लिये नहीं। मैं तो सीता की निष्कल्मषता को पहले से ही खूब जानता हूँ।

देखा आपने ? केवल लोक-संग्रह के लिये राम ने सब कुछ जानते हुए भी सीता को अग्नि-कुण्ड में झोंक दिया था। राम ने सीता में जिन-जिन दोषों का उल्लेख किया था और उनके संग्रह में जो-जो आपत्तियाँ उठाई थीं, वह उनके अपने हृदय की बात न थी, बल्कि जनता द्वारा सम्भावित दोषों की गणना-मात्र थी। उस समय वह जनता की ओर से स्वयं अपने विरुद्ध वकालत कर रहे थे। यही तो राम की नीति की विशेषता थी। सच्चा राजा वही जो प्रजा का रञ्जन कर सके। जिस राजा के प्रति प्रजा में दुर्भाव बढ़े वह राजा ही नहीं। राम नहीं चाहते थे कि उनके सम्बन्ध में कोई भी लोकापवाद—फिर वह चाहे झूठा ही क्यों न हो—प्रजा के मन में घर करे। इसीलिये उन्होंने यहाँ सीता के प्रति ऐसा कठोर व्यवहार किया, जिससे देवता तक विचलित हो उठे। उनका यह करना कहाँ तक उचित था और इस प्रकार सीता के ऊपर उनका अत्याचार करना कहाँ तक ठीक था, इसका विचार हम अन्यत्र करेंगे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि राम इसी कारण राम कहाए और 'रामराज्य' की महिमा भी इसी कारण आज तक गाई जाती है कि वह लोक-संग्रह तथा प्रजानुग्रह के लिये अपना सर्वस्व और अपने प्राणों तक की आहुति दे सकते थे।

सीता की इस अग्नि-परीक्षा के समय अनेक देवताओं ने दर्शन दिए। राम को वरदान दिए। वहीं दशरथ के भी दर्शन हुए। दूसरे दिन पुष्पक पर चढ़कर सबके साथ राम अयोध्या

चले। सीता के अनुरोध से मार्ग में रुमा और तारा आदि वानर-स्त्रियों को भी साथ ले लिया गया। महर्षि भारद्वाज के आश्रम में पहुँचकर राम ने भरत का हाल और घर की कुशल पूँछी। महर्षि मन की बात ताड़ गए। उन्होंने हँसकर कहा कि जटा-वल्कलधारी भरत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने आज तक तुम्हारी पादुकाओं का प्रतिनिधि बनकर ही राज-काज सँभाला है। घर में सब कुशल है। जब अयोध्या थोड़ी दूर रह गई तब राम ने हनूमान् को भरत का हाल जानने को भेजा। वहाँ जाकर किस-किस बात को जाँच करने को कहा था, इसकी विवेचना पहले आ चुकी है। परन्तु वहाँ जाकर हनूमान् ने राम के वियोग से दीन, हीन, मलिन-मुख, जटा-वल्कल-धारी और तपस्या से कृशाङ्ग भरत की जो दशा देखी, तो दङ्ग रह गए। जाँच करने का सब सबक़ भूल गए। ठगने गए थे, परन्तु स्वयं ही ठगे गए। प्रेम की मूर्ति और त्याग के अवतार धर्मात्मा भरत के दर्शन से समस्त राजनीति की कथा हवा हो गई। सोचने लगे कि मैं भरत के चरित में राजनीतिक गन्ध लेने आया हूँ। प्रशान्त शीतल गङ्गा की धारा में अग्नि के कण देखने आया हूँ, प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रकाश में तम की तलाश करना चाहता हूँ। यज्ञशाला में भेड़ियों की माँद खोजना चाहता हूँ और अमृत के घट में विष की बूँदें टटोलना चाहता हूँ। उन्होंने सीधे स्वभाव से हाथ जोड़कर भरत से साफ़-साफ़ कह दिया कि आप जिनके (राम के) वियोग में इतने शोकाकुल हो रहे

हैं, वह आ पहुँचे हैं और उन्होंने आपको अपना कुशल-समाचार भेजा है। यह सुनते ही भरत उठे, हर्षातिरेक से लड़खड़ाते हुए उठते ही गिर पड़े और गिरते ही बेहोश हो गए। जब होश हुआ, तो उठकर विपुल आनन्दाश्रु बहाते हुए हनूमान् से गले मिले और हनूमान् को बहुत कुछ पुरस्कार देने की बात कही, सुग्रीवादि के समागम की बात पूछी, सब कथा सुनी, राम के स्वागत की तयारी हुई, अयोध्या नगरी खूब सजाई गई, राजा दशरथ की रानियों समेत समस्त प्रधान-प्रधान व्यक्ति छत्र, चमर, रथ, घोड़े, हाथी आदि सहित नन्दिग्राम पहुँचे, आकाश में पुष्पक विमान के दर्शन हुए, भरत ने भूमि में दण्डवत् प्रणाम किया, विमान उतरा, राम ने भरत को गोद में उठा लिया, भरत मिलाप हुआ, सबसे परिचय, शिष्टाचार और कुशल-मङ्गल के प्रश्न हुए, भरत ने वे ही राम की पादुकाएँ जो चौदह वर्ष पहले चित्रकूट पर ली थीं और जिन्हें राजा के समान छत्र-चामर-सहित सिंहासन पर बिठाके स्वयं राज-काज चला रहे थे, अपने हाथ से राम के चरणों में पहनाईं और हाथ जोड़कर बोले कि यह आपका राज्य जो धरोहर (न्यास) के रूप में अब तक मेरे पास था, आज आपको समर्पित है, आज मेरा जन्म कृतार्थ हुआ और मनोरथ सफल हुआ है, जो आपको अयोध्या लौटकर राज्य स्वीकार करते देख रहा हूँ। आप अपना ख़ज़ाना, धन-धान्य और सेना आदि सब देख लीजिए। आपके प्रताप से यह सब मैंने पहले की अपेक्षा दस-गुना कर दिया है। इस प्रकार भ्रातृ-वत्सल भरत की बातें सुनकर

सब देखनेवाले आनन्द-गद्गद होकर प्रेमाश्रु बहाने और भरत को धन्य-धन्य कहने लगे।

'पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्;
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्। ५३।
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः;
एतत्ते सफलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया। ५४।
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः;
यत्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्। ५५।
अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम्;
भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया। ५६।
तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम्;
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः'। ५७। यु०, १२६

राम की प्रेम-पूर्ण नीति की आज पूर्ण विजय हुई। भरत की भक्ति और प्रजा के श्रद्धा-विश्वास की आज चरम सीमा दीख पड़ी। जो लोग भरत को भुलावा देकर राम को राज्यच्युत कराना चाहते थे, उनकी आज पूर्ण पराजय हुई और ऋषियों तथा देवताओं ने जो लम्बा कार्य-क्रम (राक्षसों के वध के लिये) तयार किया था, वह आज साङ्गोपाङ्ग समाप्त हुआ। राम ने वन्य वेष छोड़कर राजोचित वेष धारण किया। उनको रथ पर बिठाके भरत ने घोड़ों की बाग थामी, शत्रुघ्न ने हाथ में छत्र लिया, लक्ष्मण ने चामर और विभीषण ने बालव्यजन सम्हाला। इस प्रकार प्रजा के हृदयाभिराम राम ने अयोध्या नगरी में धूम-धाम

से प्रवेश किया और संसार में अद्वितीय भ्रातृ-प्रेम का यह आदर्श स्थापित हुआ।

बड़े समारोह के साथ राम का राज्याभिषेक हुआ। चौदह वर्ष पहले उनका अभिषेक करने के समय महाराज दशरथ ने जिन केकयराज और जनक महाराज को 'जल्दी के कारण' नहीं बुलाया था, वे दोनो भी आज मौजूद थे और पहले जिन भरत को इस आशङ्का से घर से बाहर (नाना के यहाँ) निकाल दिया था कि कहीं वह राम के राज्याभिषेक का विरोध करके स्वयं राजा बनना न चाहें, आज वही भरत राम से राज्य स्वीकार करने की प्रार्थना करते हुए उनके चरणों पर लोट रहे थे। पहले जो राम के विरोधी थे, उनकी जिह्वा पर भी आज 'राम-ही-राम' की रट लगी थी। इस धूम-धाम से राम का राज्याभिषेक पूर्ण हुआ और 'रामायण में राजनीति' का यह लम्बा सर्ग भी समाप्त हुआ।

राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। उन्होंने राजनीति के विषय में भी अनेक मर्यादाएँ बाँधी हैं। 'वालि-वध' के प्रकरण से उन्होंने यह सङ्केत किया है कि राजनीति कभी धर्मनीति के समान उज्ज्वल, सरल तथा निष्कल्मष नहीं हो सकती। भरत के प्रति की गई कई प्रकार की जाँच-पड़ताल से उन्होंने यह सङ्केत किया है कि राजा को कभी राजनीति से अलग नहीं होना चाहिए। उसे अपने सम्बन्धियों और सगे भाइयों पर भी सतर्क रहकर राजनीतिक ढङ्ग की जाँच-पड़ताल करते रहना चाहिए। लङ्का

विजय के अनन्तर सीता के साथ किए गए कठोर व्यवहार से उन्होंने यह सूचित किया है कि प्रजा के हृदय में उठनेवाले दुर्भाव को दूर करने के लिये राजा को अपने सर्वस्व और अपने प्राणों तक की आहुति देने को तयार रहना चाहिए। जिन लोगों ने सीता के वियोग में राम के अत्यन्त विह्वल होने की बातें देखो हैं उन्हें उक्त बात अस्वाभाविक मालूम होगी। हम भी इसे मन अथवा माया के वशीभूत जीवों के स्वभाव से विपरीत मानते हैं और इसी कारण राम को जीवकोटि से ऊँचा माया का अधिष्ठाता समझते हैं।

(रामायण में भरत)

रामायण में भरत का एक विशेष स्थान है। यदि यह कहा जाय कि रामायण के पात्रों में भरत का चरित्र सबसे अधिक उज्ज्वल है, तो कोई अत्युक्ति नहीं। भरत ने जितनी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना किया—और जिस धैर्य तथा साहस के साथ किया—उतना कोई दूसरा कर सकता, इसमें सन्देह ही है। जितनी परीक्षाएँ भरत ने दीं, उतनी यदि किसी दूसरे के सामने आई होतीं, तो होश मारे जाते। भरत के चरित्र का मनन करने से प्रतीत होता है कि वह विपत्तियों के महासागर में अविकम्पित-रूप से स्थिर रहनेवाले महाशैल हैं। भरत के मन को डिगाने के लिये संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति बेकार सिद्ध होती है और भरत को लुभाने के लिये माया के ऊँचे-से-ऊँचे सम्मोहन अस्त्र निकम्मे ठहरते हैं। दुनिया एक ओर है और भरत एक ओर हैं। एक ओर प्रलोभनों के विशाल शैल की

चकाचौंध है और दूसरी ओर विपत्तियों का अपार सागर है। घर के सब सगे-सम्बन्धी उन्हें उनका हित सुझा रहे हैं। उनके जन्म से ही पहले, उनकी माता कैकेयी के विवाह से भी पूर्व उनके नाना ने महाराज दशरथ से प्रतिज्ञा करा ली थी कि कैकेयी का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। इसी शर्त पर कैकेयी का विवाह हुआ था। दशरथ ने अपने कामीपन के कारण यह शर्त मंज़ूर कर ली थी। आज उनका वह मनोरथ सफल हुआ था। मन्थरा के उपदेश से कैकेयी ने इस चिर-पोषित मनोरथ के लिये घर में 'महाभारत' मचा दिया था। एक प्रकार से भरत के मार्ग के काँटे—राम—को जड़ से उखाड़ फेंका था। नाना, मामा आदि सब-के-सब राज-कार्य के तजुर्बेकार और भरत के हरतरह से मददगार थे। १४ वर्ष का समय भी कम नहीं होता। इतने समय में भरत प्रजा को अच्छी तरह क़ाबू में कर सकते थे। यदि कोई अड़चन होती, तो उनके सहायक भी कम नहीं थे। यदि कोई दोष देता तो दशरथ को देता, जिन्होंने अनुचित शर्त पर विवाह किया था। आख़िर भरत का इसमें क्या दोष था ? वह अपने 'जन्म-सिद्ध अधिकार' को कैसे छोड़ दें ? फिर कैकेयी को मिले वरदान भी तो कम न थे !

माना कि राम, लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र ने जो दिव्यास्त्र दिए थे, वे भरत के पास नहीं थे। हम थोड़ी देर के लिये यह भी माने लेते हैं कि यदि राम-लक्ष्मण के साथ भरत का संग्राम छिड़ जाता, तो शायद भरत हार जाते, परन्तु इस संग्राम

का अवसर ही कैसे आ सकता था ? राम लड़ते भी कैसे ? भरत को राज्य देकर पिता दशरथ ने अपनी प्रतिज्ञा—चाहे अनिच्छा-पूर्वक ही सही—पूरी की थी, इसी के कारण, सबके समझाने पर भी राम ने राज्य छोड़कर वन का रास्ता लिया था। धर्मात्मा राम ने पिता को अधर्म और असत्य से बचाने के लिये राज्य छोड़ा था। फिर राम किस बहाने इस राज्य के लिये युद्ध छेड़ सकते थे ?

शायद कोई कहे कि १४ वर्ष वनवास के अनन्तर राम अपने राज्य के लिये लड़ सकते थे, परन्तु यह ठीक नहीं है। १४ वर्ष के समय की शर्त 'राम-वनवास' के साथ लगाई गई थी; भरत-राज्य के साथ नहीं। कैकेयी ने जो दो वरदान माँगे थे; उनमें यह नहीं था कि भरत १४ वर्ष राज्य करें और बाद में आकर राम राज्य ले लें। उसने साफ़ कहा था कि 'भरत का राज्य हो—बिना किसी शर्त के—और राम १४ वर्ष वन में रहें'। यदि १४ वर्ष के बाद राम चाहते तो नगर में आ सकते थे, लेकिन राज्य वह कभी नहीं ले सकते थे। कैकेयी की राज-नीतिक गुरु मन्थरा इतनी भोली नहीं थी, जो ऐसी कच्ची बात सिखाती, और न कैकेयी के पिता ने ही ऐसी कमज़ोर शर्त की थी। वाल्मीकि ने मन्थरा की उक्ति इस प्रकार लिखी है—

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ;
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश। २०।
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ;

प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति । २१ । अयो०, ९ सर्ग

अर्थात् भरत का राज्य और राम का १४ वर्ष का वनवास वरदान में माँगो । १४ वर्ष तक जब राम वनवासी रहेंगे, तो इतने दिनों में 'पुत्र'—भरत—प्रजा का स्नेह-भाजन हो जायगा और प्रजा के हृदय में स्थान पा लेने पर वह—भरत—स्थिर हो जायगा, फिर उसका राज्य किसी के हिलाए न हिलेगा ।

'चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ;
रूढश्चकृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः । ३१ ।
येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति ;
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति । ३४ ।
संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान् । ३५ । अयो०, ९ सर्ग

मन्थरा ने स्पष्ट ही कहा था कि १४ वर्ष तक राम के वनवास से इतने दिनों में भरत अपनी जड़ जमा लेंगे और इसके बाद निर्भय होकर राज्य कर सकेंगे । जब तक राम वन से लौटकर आयँगे, तब तक भरत अन्दर-बाहर (सब जगह) बद्ध-मूल हो जायँगे । सब प्रजा को अपनी ओर मिलाके अपने मित्रों के साथ मजबूत हो जायँगे । इससे स्पष्ट है कि १४ वर्ष वनवास की शर्त सिर्फ़ इसलिये की गई थी कि इतने समय में भरत का राज्य स्थिर हो जाय, वह प्रजा का हृदय अपने वश में कर सकें और उनके विरोधी राम इतने समय तक प्रजा की आँखों के आगे से एकदम हटा दिए जायँ, जिससे लोगों का स्नेह उनके ऊपर से बिलकुल हट जाय । १४ वर्ष के बाद राम को राज्य

खौदा देने की न कोई बात थी, न हो ही सकती थी। इस दशा में भरत को राम से या उनके दिव्याऽस्त्रों से कोई डर नहीं था। राम को यदि क्रोध करना या लड़ना था, तो अपने पिता से निबटते, जिन्होंने उनका अधिकार नष्ट किया था। भरत का इसमें क्या दोष था? उनसे राम किस आधार पर अटक सकते थे?

फलतः यह सिद्ध है कि भरत का राज्य निष्कण्टक था। उनके नाना ने ही इसका बीज बो रक्खा था। मन्थरा ने उसे अङ्कुरित और पल्लवित किया था, कैकेयी ने उसे पुष्प-फल-सम्पन्न बनाया था और भरत—केवल भरत—उसके उपभोग के अधिकारी थे। माता उन्हें राज्य दे रही थी, पिता ने उन्हें राज्य देने की बात कहकर ही प्राण छोड़े थे, वशिष्ठ आदि समस्त ऋषिगण और मन्त्रिगण उनके राज्याभिषेक की तयारी किए बैठे थे, तमाम सूत, मागध, बन्दी तयार थे। सम्पूर्ण सामन्त लोग चुपचाप यह दृश्य देखने को प्रस्तुत थे और आबालवृद्ध प्रजा इसी की आशा में थी।

यह ठीक है कि प्रजा राम को राजा देखना चाहती थी, परन्तु यह भी ठीक है कि प्रजा भरत का बहिष्कार शायद ही कर सकती। जब उसे पुराने इतिहास का पता चलता—जिसके कारण भरत को राज्य मिला था—तब वह भरत को उतना दोषी कदापि न समझती। हाँ, दशरथ को भले ही दोष देती। फिर यही तो भरत का कर्तव्य था। प्रजा का रञ्जन ही तो राजा का धर्म है। उन्हें यहीं पर अपनी प्रजा-रञ्जनात्मक समस्त शक्तियों का

परिचय देना था। यदि वह इतना भी न करते, तो राज्य क्या चला सकते थे ? इसके अतिरिक्त बहुत कुछ मार्ग तो उनकी माता ने ही राम को वनवास देकर साफ़ कर दिया था और बाक़ी के लिये उनके नाना-मामा कमर कसे तयार थे। वे सब सँभाल लेते, यदि भरत राजगद्दी पर बैठ भर गए होते।

इससे स्पष्ट है कि भरत ने किसी राजनीतिक कारण से राज्य का परित्याग नहीं किया। राजनीतिक कारण तो उनके राज्य लेने के ही अनुकूल थे। अपनी दुर्बलता या अयोग्यता के कारण भी उन्होंने राज्य-त्याग नहीं किया था। किसी के डर से, लोकापवाद के भय से, साथियों के विरोध से या और किसी ऐसे ही कारण से उन्होंने राज्य नहीं छोड़ा था। वस्तुतः भरत के चरित्र में राजनीतिक बातों की खोज करना एक प्रकार से उनका अपमान करना है। भरत विशुद्ध भक्ति और प्रेम के अवतार हैं। पवित्रता की सीमा और निःस्पृहता की जागती ज्योति हैं। उनका हृदय सत्य का केन्द्र और धैर्य का आकर है, उनकी बुद्धि दृढ़ता और संयम की खान है। भरत समुद्र की भाँति अगाध और हिमालय की भाँति अटल हैं। अपने पवित्र और निःस्पृह अन्तःकरण से जो निश्चय भरत एक बार कर चुके हैं, उसे उलट देना ईश्वर के भी सामर्थ्य से बाहर है। स्वयं राम ने भी बीसों प्रकार से भरत को राज्य लेने के लिये बाध्य किया। पिता की आज्ञा की बात बताकर, धर्म की कथा सुनाकर, प्रजा के हित की दुहाई देकर, कैकेयी के विवाह के समय की हुई

पिता की प्रतिज्ञा और देवासुर-संग्राम के वरदानों की याद दिला-कर, मतलब यह कि हर तरह हिला-झुलाकर स्वयं राम भी उद्योग करके थक गए, पर भरत जो एक वार राज्य छोड़ने का संकल्प कर चुके, तो फिर अपनी दृढ प्रतिज्ञा से किसी के भी हटाए न हटे, न हटे।

भरत के रोम-रोम से प्रेम-पीयूष की धारा वहती है। उनके अक्षर-अक्षर से भक्ति-रस का प्रवाह उमड़ने लगता है। भरत के प्रत्येक निश्वास में 'राम-राम' की रट है। 'मेरे तो एक राम नाम दूसरा न कोई' बस, यही भरत का मन्त्र हो रहा है। माता छोड़ी, मातृपक्ष छोड़ा, प्रजा छोड़ी, राज्य छोड़ा, धन-दौलत छोड़ी, सुख-सम्पत्ति छोड़ी, एक राम-नाम के पीछे भरत ने सब संसार छोड़ा, अपना-पराया छोड़ा, यदि न छोड़ा तो एक राम-नाम। इसी से हम कहते हैं कि भरत के चरित्र में राजनीतिक वातों को ढूँढ़ना उनके चरित्र का अपमान करना है। पवित्र गङ्गा की धारा में शेर की माँद ढूँढ़ना है और गन्ने के भीतर गोखरू तलाश करना है। दशरथ ने कैकेयी को समझाते समय बहुत ठीक कहा था कि 'रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्' अर्थात् 'धर्म में भरत को मैं राम से भी बढ़कर समझता हूँ।' राम के विना भरत कभी राज्य स्वीकार न करेंगे इत्यादि। राम के चरित्र में राजनीति और धर्मनीति की गङ्गा-यमुना मिलकर वहती है, परन्तु भरत का चरित्र तो पवित्र प्रेम की गङ्गोत्तरी है। भरत के चरित्र को लक्ष्य करके यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं कि—

सुधातः स्वादीयश्चरितमिदमातृप्तिपिबतां—

जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ।

हम कह चुके हैं कि जितनी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना—जिस धैर्य के साथ—भरत ने किया, उस तरह—उतनी सफलता के साथ—रामायण का कोई दूसरा पात्र कर सकता या नहीं, इसमें सन्देह ही है। कैकेयी ने संसार-भर का अपयश अपने सिर क्यों लादा ? केवल भरत के राज्य के लिये। उसने वैधव्य तक को परवा नहीं की। समस्त प्रजा, सम्पूर्ण ऋषि-मण्डल, तमाम रनवास, सब सामन्त कैकेयी को थू-थू करते रहे, परन्तु उसने सबकी। उपेक्षा की क्यों ? केवल भरत के लिये। सब संसार को अपना वैरी बनाया और अपने माथे पर अमिट कलंक का टीका लगाया, किसलिये ? सिर्फ़ इसीलिये। यदि राज-नीतिक दृष्टि से देखा जाय, तो कैकेयी के सिवा भरत का कोई हितैषी नहीं था। उनके सगे पिता तक उनके शत्रु थे। छिपकर राम का राज्याभिषेक करने के लिये ही उन्होंने उस समय भरत को कपट से उनके नाना के यहाँ भेजा था। दशरथ ने राम से साफ़ ही कहा था कि—

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ;

तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम । २५ । अयो०, ४ सर्ग

अर्थात् 'जब तक भरत इस नगर से बाहर हैं तभी तक तुम्हारा (राम का) राज्याभिषेक हो जाना मैं उचित समझता हूँ।' इससे स्पष्ट है कि दशरथ ने भरत के साथ घात की थी और उसी का

जवाब मन्थरा और कैकेयी का वह आचरण था। कौशल्या ने राम के अभिषेक की बात सुनकर 'हतास्ते परिपन्थिनः' कहकर भरत-पक्ष को राम का शत्रु बताया था। इस दशा में भरत का हितचिन्तक यदि कोई था तो कैकेयी आदि ही। परन्तु इन सबको भरत की ओर से क्या पुरस्कार मिला, यह आगे देखिए और फिर सोचिए कि भरत के चरित्र में कहीं राजनीतिक गन्ध भी है, या वह विशुद्ध धार्मिक ही है ? भरत जब नाना के यहाँ से बुलवाए गए तो सीधे कैकेयी के पास पहुँचे। नगर और राजमहल के शोक-मिश्रित सन्नाटे को देखकर वह कुछ खटक तो गए ही थे, जाते ही उन्होंने दशरथ, राम आदि के सम्बन्ध में पूछ-ताछ शुरू की।

अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यति ;
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्। २७।
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ;
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्। २८।
यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः ;
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः। ३२।
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः ;
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम। ३३। अयो०, ७२

अर्थात् मैं तो यह सोचकर चला था कि या तो राजा (दशरथ) राम का अभिषेक करेंगे या कोई यज्ञ करेंगे। परन्तु यहाँ तो मैंने कुछ और ही देखा, जिससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। आज मैं अपने प्रिय और हितचिन्तक पिताजी को नहीं देख

रहा हूँ। जो मेरे भाई, पिता, बन्धु आदि सब कुछ हैं, जिनका मैं दास हूँ, उन राम का पता मुझे शीघ्र बताओ। बड़ा भाई पिता के सदृश होता है, मैं राम के पैरों पड़ूँगा, आज वही मेरे लिये सब कुछ हैं।

जब कैकेयी ने कहा कि राम को वनवास दे दिया गया, तो भरत डर गए। उन्हें सन्देह हुआ कि राम से कोई अनुचित कार्य तो नहीं हो गया, जिसका यह दण्ड मिला। लेकिन कैकेयी ने बताया कि 'यह सब कुछ मैंने तुम्हारे लिये किया है। तुम अब राजगद्दी पर बैठो' इत्यादि। इसके उत्तर में भरत ने जो कुछ कहा है, उसमें आप भरत के हृदय का सच्चा चित्र देख सकेंगे और भरत के पवित्र चरित्र का अविकल रूप पा सकेंगे। सुनिए—

दुखी होकर भरत बोले कि 'शोक-सन्तप्त मेरे-जैसा अभागा राज्य लेकर क्या करेगा, जो आज पिता से भी हीन है और पितृ-तुल्य बड़े भाई से भी हीन है। कैकेयी, तूने मुझे दुःख-पर-दुःख दिया, तूने मेरे कटे पर नमक छिड़का, जो राजा को मारा और राम को वनवास दिया। मैं समझता हूँ कि तुझे यह मालूम नहीं है कि मेरा राम के प्रति कैसा भाव है, इसी कारण तूने राज्य के लोभ से यह अनर्थ किया। मैं राम-लक्ष्मण के विना किसके बल पर राज्य करूँगा? अच्छा, यदि बुद्धि और नीति के बल पर मैं राज-काज चला सकता हूँ, तो भी मैं तेरा मनोरथ पूरा न होने दूँगा। तू अपने पुत्र को राजा देखना चाहती है, लेकिन मैं तुझे यह न देखने दूँगा। यदि राम तुझे

सदा माता के तुल्य न समझते होते तो आज तुझ-जैसी पापिनी का त्याग करने में भी मुझे कोई संकोच न होता। कैकेयी, तू राज्य से भ्रष्ट हो, अरी दुष्टा, क्रूरे! तू धर्म से पतित है, ईश्वर करे, मैं मर जाऊँ और तू मेरे लिये रोया करे। तू माता के रूप में मेरी शत्रु है। तूने राज्य के लोभ से पति की हत्या की है। तू मुझसे बात न कर। तू याद रख, पिता और भाई के प्रति जो तूने पाप किया है, मैं उसका पूरा प्रायश्चित्त करूँगा और अपना यश भी बढ़ाऊँगा। राम को राज्य देकर मैं अपना पाप धोऊँगा और तब अपने को कृतकृत्य समझूँगा।'

इस वर्णन में आप देखेंगे कि कैकेयी के कृत्य से भरत को मर्मान्तिक वेदना हो रही है। वह अपने राजनीतिक हितैषी को सीधे शत्रु कहकर पुकार रहे हैं। उनका हृदय धार्मिक भावना से परिपूर्ण है। उनको राज्य दिलाने के लिये उनकी माता ने जो कार्य किया है, उसे वह घोर पाप समझ रहे हैं एवं इसके प्रायश्चित्त के लिये अपनी मृत्यु तथा अपनी माता के करुण क्रन्दन तक की आकाङ्क्षा कर रहे हैं। धर्ममूर्ति भरत के निष्कल्मष हृदय का यह सच्चा चित्र है। इसमें धर्म, प्रेम और भक्ति-जैसे पवित्र भावों के सिवा और किसी दुर्भाव को स्थान ही नहीं है। भरत का निष्कपट प्रेम, निःस्वार्थ भक्ति और दम्भहीन धर्म उनके प्रत्येक वाक्य से प्रकट होता है। वह राम के ऊपर अपने को न्यौछावर कर चुके हैं। राम की विरोधी अपनी मा भी आज उनकी दृष्टि में शत्रु है। उन्हें राम की गद्दी पर बैठने में घोर दुःख

और राम के चरणों पर लोटने में परम आनन्द प्राप्त हो रहा है। आज वह प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि मैं माता के पापों का प्रायश्चित्त करके यशस्वी बनूँगा। कहना नहीं होगा कि भरत ने इस प्रतिज्ञा को अपनी जान पर खेलकर पूरा किया और खूब पूरा किया।

भरत ने इस अवसर पर सबका सब दोष माता के ऊपर ही रक्खा है। पिता दशरथ के विरुद्ध उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। यह भी भरत के चरित्र की एक विशेषता है। लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने तो बड़े स्पष्ट शब्दों में—चाहे परोक्ष में ही सही—दशरथ को खरी-खोटी सुनाई हैं, परन्तु भरत के मुँह से उनके लिये एक भी कटु शब्द नहीं निकला। यों तो राम की भी पितृ-भक्ति आदर्श है। उचित-अनुचित का विचार छोड़कर, पिता की आज्ञा का पालन जैसा राम ने किया, वैसा कोई क्या करेगा! परन्तु राम के पीछे दशरथ ने भी तो अपने प्राण तक गवाँ दिए थे। अपनी प्राणाधिक प्रियतमा कैकेयी को भी उन्होंने राम के पीछे ही तिलाञ्जलि दी थी। यह बात कही जा सकती है कि दशरथ राम को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, परन्तु भरत के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती। भरत के विरुद्ध दशरथ ने षड्यन्त्र रचा था। भरत को राज्य से भ्रष्ट करने के लिये उन्हें कपट से बाहर भेजा था और उनकी अनुपस्थिति में—उनके नाना, मामा को सूचना तक न देते हुए घर में चुपके-चुपके राम के राज्याभिषेक की कपट-पूर्ण आयोजना की थी। इससे भरत का मन मलीन हो सकता था। राम

की और उनकी दशा में बहुत भेद था। पिता का व्यवहार दोनो के प्रति समान नहीं था। राम और भरत के प्रति दशरथ के व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर था। इस दशा में भरत का भाव भी यदि बदल जाता तो कुछ आश्चर्य न होता। आश्चर्य तो यही है कि इन सब बातों के होते हुए भी भरत राम के समान ही पितृभक्त बने रहे। इसे देखते हुए यदि यह कहा जाय कि भरत राम से भी बढ़कर पितभक्त थे तो कोई अत्युक्ति नहीं।

भरत राम के प्रेम में सराबोर थे। उनके सर्वस्व राम ही थे। राम के पसीने की जगह भरत का खून गिरने को तयार हो जाता था। राम का प्रेमी ही उनका प्रेम-पात्र था और राम का विपत्ती उनका घोर शत्रु था। यही कारण है कि राम के प्रेम में प्राण देनेवाले पिता का कोई दोष भरत की दृष्टि में आया ही नहीं। उन्होंने उनके सब दोषों की उपेत्ता कर दी, परन्तु राम का विरोध करनेवाली मा कैकेयी उनकी आँखों में शूल की तरह खटकने लगी। भरत को राज्य की आकाङ्क्षा कभी थी ही नहीं। वह तो राम के प्रेम के भूखे थे। नाना के यहाँ से आते हुए उन्होंने यही समझा था कि शायद राम का राज्याभिषेक होगा, उसो के लिये मुझे बुलाया है। वह अपने को राज्य का अधिकारी समझते ही नहीं थे। कैकेयी के विवाह के समय की हुई दशरथ की प्रतिज्ञा का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य ही नहीं था। वह उसे काम-ज्वर का प्रलाप-मात्र समझते थे और वरदान

के नाम पर कैकेयी का राज्य माँगना उनकी नज़र में कपट-पूर्ण अधर्म था। वह ज्येष्ठ की राज्य-प्राप्ति को ही धर्म समझते थे। यही उन्होंने अनेक जगह कहा है। उन्हें कभी यह ध्यान ही नहीं था कि लोग—और ख़ासकर उनके पिता ही—उन्हें राम का विरोधी समझेंगे और वह भी अधर्म-पूर्वक राज्य लेने के लिये। छिः छिः! धर्मशास्त्र की दृष्टि में इस प्रकार कामावेश की प्रतिज्ञाओं का कोई मूल्य नहीं और धर्मात्मा भरत की दृष्टि में भी यह प्रतिज्ञा दो कौड़ी—बल्कि उससे भी कम—की थी। पिता इसके लिये ऐसा 'अकाण्ड-ताण्डव' करेंगे, इसकी उन्हें कोई सम्भावना ही नहीं थी। इन्हीं कारणों से धर्मात्मा भरत की दृष्टि में दशरथ का कोई दोष नहीं आया और वह राम के समान ही पितृभक्त बने रहे। हाँ, राम की विरोधिनी माता को वह शत्रु समझने लगे। मन्थरा को ज़मीन में घसीटते हुए शत्रुघ्न का क्रोध शान्त करते समय उन्होंने यहाँ तक कह डाला था कि—यदि मुझे यह डर न होता कि धर्मात्मा राम मातृ-घातक समझकर मेरा त्याग कर देंगे, तो मैं आज इस दुष्ट कैकेयी का वध कर डालता।

> हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
>
> यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।२२।अ०, ७८ सर्ग

इन बातों से स्पष्ट है कि भरत का पवित्र हृदय राम की भक्ति में तल्लीन और राम के प्रेम में मतवाला था। उनका यही मन्त्र था कि 'मेरे तो एक राम-नाम दूसरा न कोई'।

अच्छा, अब प्रकृत बात पर ध्यान दीजिए। कैकेयी से मिलने पर जब भरत को सब बातें मालूम हुईं और भरत के आने की खबर कौसल्या के कान तक पहुँची तो वह भी सुमित्रा के साथ रोती, कलपती और काँपती हुई वहीं पहुँचीं। अब यहीं से भरत की कठोर परीक्षाएँ आरम्भ होती हैं। भरत इन्हें किस धैर्य और कितनी दृढ़ता से पार करते हैं, यह आप आगे देखेंगे—

भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता। १०।
इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्;
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा। ११।
क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति;
अथवा स्वयमेवाऽहम् सुमित्रानुचरासुखम्;
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये येन राघवः। १४।
कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि। १५।
इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्;
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया। १६।
इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः संभर्त्सितोऽनघः;
विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना। १७।
पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः;
विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत्। १८। अयो०, ७५

राम-वनवास से व्याकुल कौशल्या की दयनीय दशा देखकर भरत का कोमल हृदय दुःख से कातर हो उठा। उनका काँपना, कलपना और बिलखना देखकर भरत घबरा गए और जब उन्होंने

देखा कि कौशल्या राम-वनवास का कारण उन्हीं (भरत) को समझ रही हैं, तब तो उनके दुःख का पारावार न रहा। कौशल्या के कठोर आक्षेपों से भरत का निष्कल्मष चित्त विचलित हो गया और वह मूर्च्छित होकर कौशल्या के चरणों पर गिर पड़े। जब होश में आए तो आँसू-भरे नेत्र और गद्गद कण्ठ से 'हा राम' 'हा राम' कहकर इधर-उधर पागलों की भाँति ताकने लगे। उन्होंने कौशल्या को विश्वास दिलाने के लिये सैकड़ों शपथें—ऐसी-ऐसी कड़ी शपथें कि जिनसे पत्थर का भी कलेजा दहल जाय—खाईं। जिसकी अनुमति या जानकारी में राम को वन-वास हुआ हो, वह रण में भागता हुआ मारा जाय, घोर-से-घोर पाप का फल उसे भोगना पड़े इत्यादि।

भरत की इस दशा को देखकर कौशल्या के हृदय पर गहरी चोट लगी। उन्होंने स्पष्ट देखा कि भरत को राम के वियोग का दुःख उनसे (कौशल्या से) कम नहीं है और उनके अनुचित आक्षेपों ने भरत के निरपराध हृदय को व्याकुल कर दिया है। इससे कौशल्या भी घबरा गईं और भरत को गोद में बिठाकर स्वयं रोने लगीं। उन्होंने कहा—

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ;
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे। ६१।
दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः ;
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि। ६२।
इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ;

परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता । ६३ । अयो०, ७५ सर्ग

यह भरत की सबसे प्रथम और सबसे कठिन परीक्षा थी। यदि उनके हृदय में राम के प्रति अनन्त प्रेम न होता, यदि उनके व्यवहार में विशुद्ध धार्मिकता को छोड़कर कहीं ज़रा भी राजनीतिक चालों की गन्ध होती, तो राम की माता के हृदय को इतनी जल्दी दयार्द्र कर लेना उनके लिये सम्भव ही नहीं था। भरत के चरित्र की यह सर्वोत्तम विजय हुई।

कुछ तो दशरथ की प्रतिज्ञा के कारण और कुछ राम-वनवास के कारण भरत की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। बच्चा-बच्चा उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था। पद-पद पर लोग उन्हें राम का विपक्षी समझने लगे थे। राम के एक अनन्य भक्त को इससे बढ़कर दुःख क्या हो सकता था कि एक निषाद से लेकर बड़े-से-बड़े महर्षि तक, बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी स्त्री-पुरुष उसे शङ्का की दृष्टि से–रामविरोधी की दृष्टि से—देखने लगें।

सबसे पहले कौशल्या ने उनकी परीक्षा की, उसके बाद सूत, मागध आदि का नम्बर आया, फिर सामन्त राजाओं की और अनन्तर वसिष्ठ आदि ऋषियों की बारी आई। सभी प्रकृतियों और प्रजा ने भी भरत को परखा। इन लोगों से जब निबटे और राम को लौटाने के अभिप्राय से गङ्गा-किनारे पहुँचे तो निषादराज गुह ने डण्डा सम्हाला। उन्होंने ध्वजा देखते ही समझ लिया कि यह भरत की सेना है। और गङ्गा के उस पार अपने सब अनुचरों को फ़ौजी हुक्म सुना दिया। गुह अपने

अनुचरों से कहते हैं कि 'देखो, यह समुद्र के समान उमड़ती हुई सेना गङ्गा के उस पार दीख रही है। रथ में कोविदार की ध्वजा है। इससे स्पष्ट है कि दुर्बुद्धि भरत स्वयं आया है। अपना राज्य निष्कण्टक करने के लिये आज यह दुष्ट राम के वध की इच्छा से सेना-सहित इधर आ रहा है। राम के बाद यह दुष्ट हम लोगों को या तो रस्सियों से बाँधेगा या मरवा ही डालेगा। राम तो मेरे स्वामी भी हैं और सखा भी हैं। आज उनका काम आ पड़ा है। इस पुण्ययज्ञ में अपने प्राणों की आहुति देने के लिये हम सब लोगों को तयार हो जाना चाहिए। राम के काम में प्राण देने से बढ़कर और कौन-सा पुण्य होगा? सब कैवर्त (निषाद) लोग गङ्गा के मुहानों को रोककर डट जाओ। पाँच सौ नावों से सब मार्ग रोक लो। एक-एक नाव पर सौ-सौ जवान सब शस्त्रों से सुसज्जित होकर तैयार रहो। मैं जाकर भरत का मन टटोलता हूँ। यदि उसके मन में कोइ पाप न हुआ, तब तो उसकी सेना पार उतार दी जायगी, अन्यथा पहले हम सब लोग यहाँ मर मिटेंगे, तब फिर राम पर आँच आएगी। हमारे जीते-जी कोई राम का बाल बाँका न कर सकेगा।'

देखा आपने? यह माना कि निषादराज राम के अनन्य प्रेमी और भक्त थे, परन्तु देखना तो यह है कि भरत के भाव को उन्होंने कितना उलटा समझा है? यह ठीक है कि निषादराज राम के ऊपर अपने प्राण देने को तयार हैं, परन्तु सोचना तो यह है कि क्या भरत भी उनके प्राण लेने को तयार हैं? हमें देखना

यही है कि आज परिस्थिति भरत के कितनी प्रतिकूल हो उठी है। आज उनके अमृतमय हृदय को एक जंगली भी विषमय समझने लगा है। भरत ने इसी प्रतिकूल परिस्थिति को सर्वथा अनुकूल बनाने का बीड़ा उठाया है।

निषादराज गुह भी बड़े अच्छे राजनीतिज्ञ थे। भरत की जितनी खोद-खोदकर परीक्षा इन्होंने की उतनी किसी ने नहीं की। इनकी हरएक चाल से राजनीतिज्ञता टपकती है। अभी आप देख चुके हैं कि यह अपने अनुचरों से क्या कह रहे थे। अब आगे देखिए कि भरत के सामने भेंट पेश करते हुए हज़रत कैसे 'भीगी बिल्ली' बने बैठे हैं—

आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत् । १५ ।
निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्;
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस । १६ ।
अस्ति मूलफलं चैतत् निषादैः स्वयमर्जितम् । १७ ।
आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम् ।१८।अयो०,८७ सर्ग

'भरत के पास आकर बड़ी नम्रता से 'गुह' ने कहा कि इस जङ्गल को आप अपने घर-आँगन का बग़ीचा समझिए। आपने हम लोगों को सेवा करने से वञ्चित कर दिया। भला आपको यहाँ ठहरने की क्या आवश्यकता थी ? 'दास-गृह'—निषाद-स्थान—सब आप ही का तो है। वहीं ठहरना चाहिए था। आपके दासों का लाया हुआ कन्द, मूल, फल सब मौजूद है, और भी जङ्गल की छोटी-बड़ी चीज़ें उपस्थित हैं। मैं समझता हूँ, उससे आपकी

सेना का खाना-पीना आज की रात में आराम से चल सकता है' इत्यादि।

देखा आपने? यह एक राजनीतिज्ञ की बातचीत है। क्या इससे पता चलता है कि अभी गुह अपने घर में क्या इन्तज़ाम करके आ रहे हैं? इसी बातचीत में जब भरत ने कहा कि 'यह जङ्गल तो बड़ा दुर्गम मालूम होता है। गङ्गा का मुहाना भी बड़ा भयानक है। तुम यह बताओ कि हम भरद्वाज मुनि के आश्रम को किस ओर से जायँ?' इस पर गुह ने कहा कि 'इस देश से जानकारी रखनेवाले सैकड़ों निषाद तुम्हारे साथ जायँगे। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा, परन्तु यह तो बताओ कि तुम्हारा हृदय तो शुद्ध है न? कहीं तुम दुष्ट भाव से तो धर्मात्मा राम के पास नहीं जा रहे हो? तुम्हारी यह इतनी बड़ी सेना देखकर मुझे सन्देह होता है। यदि तुम्हारा हृदय दोष-रहित है तो थोड़े-से आदमी लेकर ही राम के पास जा सकते थे। इस इतनी बड़ी फ़ौज का वहाँ क्या काम?'

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः;
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे। ७। अयो०, ८९

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः;
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत्। ८।
मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि;
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः। ९।
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्;

"बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते। १०। अयो०, ८५ सर्ग

स्वच्छ आकाश की तरह निर्मल—राग-द्वेष के बादलों से रहित—भरत ने बड़ी शान्ति-पूर्वक मधुर भाषा में उत्तर दिया कि 'निषादराज, ईश्वर वह समय न लाए—मैं उस समय के लिये जीता न रहूँ—जिस अनिष्ट की तुम आशङ्का कर रहे हो। राम मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, मैं उन्हें पिता के तुल्य समझता हूँ। उन्हें वनवास से वापस लाने के लिये जा रहा हूँ। मैं सत्य कहता हूँ, तुम मेरी बात को अन्यथा न समझो।'

राम के वियोग से अति दुखी, दीन, मलीन भरत की बात-चीत से और उनके इङ्गित-चेष्टित से जब गुह को निश्चय हो गया कि भरत के मन में कोई पाप नहीं है, तब वह बोले—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ;
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि । १२ ।
शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ;
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि । १३ । अ०, ८५

'भरत, तुम धन्य हो, तुम्हारे समान धर्मात्मा पृथ्वी पर दूसरा नहीं है जो विना यत्न के ही मिले हुए राज्य का त्याग कर रहे हो। तुम्हारी यह कीर्ति संसार में अमर रहेगी, जो आज तुम वनवासी राम को कष्ट से छुड़ाने के लिये जा रहे हो।' इस प्रकरण में आप देखेंगे कि निषाद की कठोर बात सुनकर भी भरत अधीर नहीं हुए। उन्हें ज़रा भी क्रोध नहीं आया। उन्होंने इस जङ्गली की धृष्टता से अपना अपमान नहीं समझा। भला

एक मामूली मल्लाह की यह मजाल कि वह चक्रवर्ती के पुत्र भ्रातृ-वत्सल भरत पर सन्देह करे और तपाक से पूछ बैठे कि 'क्योंजी, तुम्हारे मन में कोई पाप तो नहीं है ?' फिर राजकुमार इस बेहूदगी पर जरा भी न बिगड़े। उन्होंने इस जङ्गली को 'डैमफ़ूल' (Damn fool) 'नामाक़ूल' आदि कुछ भी न कहा, प्रत्युत एक साधारण आदमी की तरह गिड़गिड़ाकर अपनी सफ़ाई देने लगे।

भरत को सुमन्त्र ने बता दिया था कि निषादराज राम का मित्र है। उन्होंने उसे (गुह को) 'मम गुरोःसखे'—मेरे गुरु (राम) के मित्र कहकर सम्बोधन किया था। फिर वह उसका आदर क्यों न करते ? इसके अतिरिक्त भरत अपनी परिस्थिति समझते थे। वह जानते थे कि एक गुह ही नहीं, बल्कि प्रजा का बच्चा-बच्चा उन्हें सन्देह की दृष्टि से देख रहा है। इसी प्रतिकूल भावना को बदलने के लिये तो उनका यह प्रयास था। क्या वह काम किसी को 'डैमफ़ूल नामाकूल' कहने से बन सकता था ?

निषाद ने इतनी परीक्षा से ही भरत का पीछा नहीं छोड़ा। उसने उनकी और भी कड़ी जाँच की। लक्ष्मण के साथ इसी जगह जो गुह की बातचीत हुई थी और राम को पार उतारते समय जो-जो घटनाएँ घटी थीं, उनका गुह ने ऐसे मार्मिक शब्दों में वर्णन किया कि उसे सुनकर भरत मूर्छित हो गए। यदि भरत का प्रेम दिखावटी होता और उनके हृदय में राम के प्रति ज़रा भी दुर्भाव होता, तो वह निषाद की इस परीक्षा में अवश्य

फ़ेल हो जाते और चतुर राजनीतिज्ञ गुह इनकी असलियत को तुरन्त ताड़ जाता !

इसके साथ ही गुह ने इसी अवसर पर बड़ी कुशलता से भरत को अपनी शक्ति का भी परिचय करा दिया था, उसने साफ़ सूचित कर दिया था कि इस घोर जङ्गल की चप्पा-चप्पा-भर पृथ्वी मेरी मँझाई हुई है। मैं चाहूँ तो बड़ी-से-बड़ी सेना को इसमें भटका-भटकाके मार सकता हूँ इत्यादि।

यह सब बताने और सब तरह भरत की परीक्षा कर लेने के बाद भी गुह ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। उसे इस बात से सन्तोष नहीं हुआ कि भरत को रास्ता बताने के लिये कुछ आदमी उनके साथ कर दे या थोड़े-से आदमी लेकर स्वयं ही चला जाय। वह अपनी समस्त सेना लेकर भरत के साथ अन्तिम स्थान तक गया।

माना कि उस समय भरत का भाव ठीक था, परन्तु थे तो वह कैकेयी के ही पुत्र। राम से बातचीत होते-होते ही कहीं मनमुटाव हो गया और किसी बात पर वहाँ खटक गई तब ? तब क्या वह अपने 'स्वामी और सखा'—राम—को अकेले ही सेना-सहित भरत से भिड़ने देगा ? यह कैसे हो सकता है ? यह जङ्गली जीव अपने को जङ्गल का मालिक और आचार्य समझता है। उसके घर में उसके मित्र की ओर भला कोई आँख उठाकर देख सकता है ? पहले वह अपनी बोटी-बोटी कटवाएगा, बड़ी-से-बड़ी सेना के छक्के छुड़ाएगा, तब कहीं राम पर आँच

आएगी'। इसीलिये तो दल-बल-सहित निषादराज बड़ी सतर्कता से भरत का पीछा कर रहे हैं। वस्तुतः निषाद के चरित्र में राज-नीति-कुशलता के साथ-साथ मित्र-प्रेम और स्वामि-भक्ति का सच्चा चित्र देखने को मिलता है। इसी से तो हम कहते हैं कि भरत की परीक्षा निषाद ने जितनी खोद-खोदके की उतनी किसी ने नहीं की, परन्तु भरत का चरित्र जितना-जितना अग्नि-परीक्षा में तपता गया, उतना-ही-उतना कुन्दन के समान दमकता गया।

और-तो-और, दूर ही बैठे-बैठे सबके हृदय को परखने की शक्ति रखनेवाले, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न, त्रिकालदर्शी, महर्षि भर-द्वाज भी बेचारे भरत पर चोट करने से न चूके। वह भरत से पूछते हैं—

> किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ;
> एतदाचक्ष्व सर्वं मे नहि मे शुध्यते मनः ।१०।
> सुषुवे यममित्रघ्नं कौशल्यानन्दवर्धनम् ;
> भ्रात्रा सह सभार्योऽयं चिरं प्रव्राजितो वनम् ।११।
> नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ;
> वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ।१२।
> कच्चिन्न तस्याऽपापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ;
> अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ।१३। अयो०, ९०

'तुम तो राज्य का शासन कर रहे थे, भला तुम्हारे यहाँ आने का क्या मतलब? मुझसे साफ़-साफ़ कहो। मेरा मन विश्वास नहीं करता। जिन बेचारे राम को स्त्री के कहने से

तुम्हारे पिता ने लक्ष्मण और सीता के साथ १४ वर्ष का वन-वास दे दिया है, उन्हीं पाप-रहित राम के प्रति तुम अपने मन में कुछ पाप तो नहीं रखते हो ? कहीं निष्कण्टक राज्य भोगने की इच्छा से उनका वध करने के लिये ही तो तुम इतनी बड़ी सेना लेकर चढ़ाई नहीं कर रहे हो ?'

वज्र से भी कठोर और बाण की नोक से भी पैने इन शब्दों को सुनकर भ्रातृ-वत्सल भरत के कोमल मन की क्या दशा हुई होगी, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। कैसी भयानक अवस्था है ? एक सर्वज्ञ महर्षि का पवित्रात्मा भरत पर ऐसा अनुचित सन्देह !! पृथ्वी फट जाय, आकाश टूट पड़े, पर्वत चूर-चूर हो जायँ, समस्त दिशाएँ जल उठें और भरत उसमें समा जायँ। इस समय जो दशा भरत के हृदय की हुई होगी, उसका अन्दाजा कौन लगा सकता है ? परन्तु धन्य, महात्मा भरत !! वह इस अति विक्षोभकारी विपत्ति के समय भी उसी प्रकार दृढ रहे, जैसे बड़ी-से-बड़ी आँधी को नगाधिराज हिमालय धीरे से सह लेते हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि—

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ;
पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया । १४ ।
हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते । १५ । अयो०, ९०

भरद्वाज मुनि की बातें सुनकर भरत दुःख से कातर हो उठे। उनकी आँखों में आँसू आ गए और गला रुँध गया। वह केवल इतना ही कह सके कि यदि 'भगवान्'—त्रिकालदर्शी आप-

भी मुझे ऐसा ही समझते हैं, तब तो मेरा कहीं ठिकाना नहीं। मैं हत-भाग्य बेमौत मारा गया।

माना कि भरद्वाज ने उक्त बातें सच्चे हृदय से नहीं कही थीं। उन्होंने राम के प्रेम में आकर यह पूछा था। वाल्मीकि ने इसका साफ़ निर्देश किया है। परन्तु भरत को इसकी क्या खबर थी ? जिस आसानी से महर्षि भरत के मन को देख सकते थे, उसी आसानी से भरत के लिये महर्षि का मन परख लेना शक्य नहीं था। हम तो समझते हैं कि भरत की यह अति कठिन परीक्षा थी। जब वे उसमें पूरे उतरे तब महर्षि भरद्वाज ने प्रसन्न होकर कहा कि—

> उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः। १६।
> त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ;
> गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता। २०।
> जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ;
> अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन्।२१। अयो०, ६० सर्ग

हे भरत ! तुम रघुवंशी हो। तुममें ऐसे सद्भाव होने ही चाहिए। बड़ों की भक्ति, इन्द्रियों का दमन और सज्जनों का अनुगमन यह सब तुममें होने ही चाहिए। मैं तुम्हारे मन की ये सब बातें पहले से ही जानता था, परन्तु तुम्हारे भावों को दृढ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ाने के लिये मैंने तुमसे यह प्रश्न किया था।

बात ठीक है, हमारी सम्मति में यह परीक्षा भरत के ही योग्य थी और भरत ही इस परीक्षा के योग्य थे एवं भरद्वाज-

जैसे त्रिकालदर्शी महर्षि ही इस कठिन परीक्षा के परीक्षक होने-योग्य थे। हम तो भरत के इस पवित्र चरित्र का स्मरण करने में ही अपना अहो-भाग्य समझते हैं।

भरद्वाज के पूछने पर जब भरत ने अपनी सब माताओं का परिचय उनको दिया और उस समय दुःखावेश में आकर कैकेयी को कुछ कटु-वचन कहे, तब महर्षि ने राम-वनवास के दैवी कारणों की ओर भी सङ्केत कर दिया था। उन्होंने साफ़ कहा था—

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ;
रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति। ३०। अ०, ९२

हे भरत, तुम राम-वनवास में कैकेयी का दोष न समझो। राम के वन जाने से संसार का कल्याण होगा।

भरत की परीक्षाओं का यहीं अन्त हो गया हो सो बात नहीं है। भरद्वाज के आश्रम से जब वह सेना-सहित चित्रकूट के पास पहुँचे तब इतनी बड़ी सेना की कल-कल और आकाश में उठी धूल को देखकर राम ने लक्ष्मण से कहा कि ज़रा देखो तो यह किस की सेना है। लक्ष्मण ने एक ऊँचे-से साल-वृक्ष पर चढ़कर भरत की सेना देखने के बाद जो कुछ कहा, उसे सुनिए—

शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत्। १३।
अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ;
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा। १४। अ०, ९६

'आप (राम) जल्दी से आग बुझा दीजिए। सीता को किसी गुफा में भेज दीजिए, कवच पहन लीजिए और धनुष-बाण

लेकर तयार हो जाइए।' जङ्गल में धुआँ उठता देखकर वहाँ रहनेवाले मनुष्यों का पता शीघ्र लग जाता है, इसी से लक्ष्मण ने आग बुझाने को कहा है।

जब राम ने कहा कि यह तो देखो कि यह सेना है किसकी, तब धधकती हुई अग्नि की तरह क्रोध में भरे लक्ष्मण बोले—'प्रतीत होता है कि राज्याभिषेक हो जाने के अनन्तर अपने राज्य को निष्कण्टक बनाने के निमित्त कैकेयी का पुत्र भरत हम दोनो को मारने के लिये आ रहा है। रथ में कोविदार की ध्वजा है। आज यह हमारे हाथ आएगा। जिस भरत के कारण इतना दुःख मिला है, उसे मैं आज समझूँगा। जिसके कारण आप अपने पैतृक राज्य से च्युत हुए हैं वह शत्रु (भरत) तो अवश्य ही वध के योग्य है। भरत के वध में कोई दोष नहीं है। अपने पुराने अपकारी को मारने में पाप नहीं लगता। राज्य की लोभिन कैकेयी आज देखेगी कि उसका पुत्र मेरे द्वारा उसी प्रकार मरोड़ा जा रहा है, जैसे कोई मस्त हाथी किसी वृक्ष को तोड़-मरोड़कर फेंक देता है। आज पृथ्वी बड़े भारी पाप से मुक्त होगी। आज सेना-सहित भरत का वध करके मैं धनुष-बाण से उऋण होऊँगा।'

लक्ष्मण को क्रोधान्ध देखकर राम ने उन्हें शान्त किया और भरत की एक और अग्नि-परीक्षा होते-होते रह गई। राम बोले कि 'देखो लक्ष्मण, जब भरत स्वयं आए हैं, तो फिर धनुष-बाण और ढाल-तलवार की क्या अवश्यकता है? जब मैं

पिता के सामने राज्य छोड़ने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब फिर भरत के वध से कलङ्कित राज्य लेकर मैं क्या करूँगा ? मैं चाहूँ तो यह समस्त पृथ्वी मुझे दुर्लभ नहीं है, परन्तु मैं अधर्म के द्वारा इन्द्रासन भी नहीं चाहता। जो सुख मुझे तुम्हारे, (लक्ष्मण के) भरत के और शत्रुघ्न के विना मिलता हो, वह भस्म हो जाय। मुझे उसकी अपेक्षा नहीं।'

'हे लक्ष्मण, भरत किसी दुर्भाव से नहीं आ रहे हैं। उन्होंने जब मेरे तुम्हारे और सीता के वनवास की बात सुनी होगी, तब स्नेह और शोक से व्याकुल हो उठे होंगे। वह हम लोगों से मिलने आ रहे हैं, किसी बुरे भाव से नहीं। माता कैकेयी से अप्रसन्न होकर पिता को प्रसन्न करके भरत मुझे राज्य देने के विचार से आ रहे हैं। भरत के मन में कभी हम लोगों की बुराई नहीं आ सकती। क्या उन्होंने कभी तुम्हारे साथ कोई घात की है ? फिर आज तुम्हारे मन में ऐसी शङ्का और भय क्यों उठ रहे हैं ? ख़बरदार, भरत के लिये कोई कटु-वाक्य न कहना। उनके प्रति कहा हुआ तुम्हारा अपशब्द मुझे लगेगा। यदि राज्य के लिये तुम ये बातें कह रहे हो, तो भरत को आने दो, मैं उनसे कहकर राज्य तुम्हें दिला दूँगा। यदि मैं भरत से कहूँ कि लक्ष्मण को राजगद्दी दे दो, तो यह निश्चय है कि वह 'बहुत अच्छा' के सिवा और कुछ न कहेंगे।' राम की इन बातों ने लक्ष्मण को पानी-पानी कर दिया। वह लज्जा के मारे ज़मीन में गड़ गए। फिर उन्होंने भरत के विरुद्ध कभी आँख न उठाई।

उधर लक्ष्मण का तो ऐसा भाव था और इधर भरत को देखिए कि उनकी क्या दशा थी—

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ;

वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति । ६ । अयो०, ६८ सर्ग

भरत को बराबर यही रट थी कि जब तक मैं राम, लक्ष्मण और सीता के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मेरे व्याकुल हृदय को शान्ति नहीं मिल सकती । जिन भरत के सम्बन्ध में लक्ष्मण समझते थे कि वह हमें मारने आ रहे हैं, छत्र, चामर धारण करके राजा भरत हमारा वध करने के लिये सेना लेकर यहाँ पहुँचे हैं, वही भरत जब राम के सामने पहुँचे तब उनकी क्या दशा थी—

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ;

ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा । १ । अ०, १००

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ;

उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन । ३८ । अ०, ९९

जटा-वल्कलधारी, पर्यश्रुनयन, गद्गद कण्ठ, क्षीण देह, दीन, हीन, मलीन, दुःख से व्याकुल भरत एक अपराधी की भाँति हाथ जोड़े घबराते तथा काँपते हुए राम के पास पहुँचे और पहुँचते ही मूर्च्छित होकर उनके चरणों पर गिर पड़े । उस समय भरत के मुँह से 'हा आर्य' के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं निकल सका ।

राम ने झपट के भरत को उठाया, प्रेम-पूर्वक गोद में बिठाया

और इसके बाद जो-जो बातचीत हुई वह सभी जानते हैं। जब भरत किसी प्रकार राज्य लेने को राजी न हुए, तब राम ने इतना स्वीकार किया कि—

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ;

भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः । ३१ । अयो०, १११

'वन से लौटकर मैं धर्मात्मा भाई भरत के साथ राज्य स्वीकार करूँगा।' इधर ऋषियों ने देखा कि राम के ऊपर धीरे-धीरे भरत का रङ्ग चढ़ रहा है। उन्हें भय हुआ कि कहीं हमारा उद्देश्य ही नष्ट न हो जाय। इस कारण इसी समय ऋषि लोग बीच में कूद पड़े और उन्होंने भरत से कहा कि 'बस हो चुका, अब और अधिक आग्रह न करो। यदि तुम अपने पिता को सत्यवादी बनाए रखना चाहते हो, तो राम की बात मान लो। इन्हें १४ वर्ष तक वन में रहने दो। बाद में तुम और यह मिलकर राज्य कर लेना।'

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ;

भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः । ४ ।

ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे । ५ । अयो०, ११२

यदि भरत के कहने में आकर राम उसी समय राज्य स्वीकार कर लेते, तब तो फिर राम के द्वारा रावण का वध कराने के लिये जो कार्य-क्रम ऋषियों और देवताओं ने मिलकर तयार किया था, वह सब धूल में मिल जाता। जिसके लिये विश्वामित्र ने दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँगकर सुबाहु, मारीच, ताड़का आदि का शिकार कराया था, दिव्य अस्त्र और बला, अतिबला

आदि विद्याएँ सिखाई थीं, जिसके लिये जनकपुरी में ही सीता को वनवास की शिक्षा दी गई थी, आगे के लिये भी अगस्त्य आदि ऋषियों और इन्द्र आदि देवताओं ने बड़ी-बड़ी पेश-बन्दियाँ कर रक्खी थीं, वे सब मंसूबे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते, इसी-लिये राम और भरत के इस संवाद में ऋषि लोग अचानक फाँद पड़े और भरत को उन्होंने रोक दिया।

यह सब कुछ होने पर भी भरत अपने हठ से नहीं हटे। उन्होंने कहा कि मैं अकेला इतने बड़े राज्य की रोक-थाम नहीं कर सकता। सब प्रजा आप ही को राजा बनाना चाहती है। आप इस राज्य को स्वीकार करके इसकी स्थापना कर दीजिए। मैं आपके सेवक की भाँति आपके वनवास से लौटने तककाम चलाता रहूँगा। दूर-दर्शी भरत सम्भवतः इसी अभिप्राय से सुवर्ण-पादुकाएँ तयार कराके अपने साथ लेते गए थे, वही उन्होंने पेश कीं और कहा—

अधिरोहार्यपादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ;
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः। २१।
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च ;
प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने। २२। अ०, ११२

हे आर्य ! आप इन खड़ाउँओं को पहनिए। यही आप की प्रतिनिधि होकर आपका राज्य सम्हालेंगी। राम ने खड़ाऊँ पहनीं और फिर उतारकर भरत को दे दीं।

स पादुके संप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ;
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्। २३।

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ;

तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः । २५ ।

तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप ;

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ;

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् । २६ । अयो०, ११२

भरत ने पादुकाओं को प्रणाम किया और राम से बोले कि 'चौदह वर्ष तक मैं एक वनवासी तापस के समान जटाचीर-धारी होकर नगर से बाहर रहूँगा और आपके आने की प्रतीक्षा में फल-मूल से ही जीवन निर्वाह करूँगा। आपकी पादुकाओं को राजसिंहासन पर स्थापित करके समस्त राज्य-शासन का कार्य, इन्हीं के लिये, १४ वर्ष तक करूँगा। चौदह वर्ष बीतने के बाद पहले ही दिन यदि मुझे आपके दर्शन न मिले, तो यह निश्चय जानिए कि उसी दिन मैं प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करूँगा। फिर आपको मेरे इस पापी शरीर के दर्शन न हो सकेंगे।'

धन्य भरत, और धन्य उनकी प्रतिज्ञा। भरत का चरित संसार में अद्वितीय है। इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण ही नहीं। धन्य हैं राम जिन्हें भरत-जैसे भाई मिले। भरत का पवित्र चरित्र संसार के लिये ज्योतिःस्तम्भ का काम दे सकता है।

'स पादुके ते भरतः स्वलंकृते;

महोज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं;

चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि । २९ । अयो०, ११२

भरत ने पादुकाएँ लीं, उन्हें अपने सिर पर रक्खा, राम की प्रदक्षिणा की और उन पादुकाओं को हाथी पर रखवाया।

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः ;
अब्रवीद्दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् । १५ ।
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ;
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम । १६ ।
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ;
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति । १७ ।
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ;
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ । १८ ।
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ;
राज्यं चेदमयोध्यायां धूतपापो भवाम्यहम् । २० ।
स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ;
नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा । २१ ।
सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ;
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् । २२ ।
ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ;
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा । २३ ।
तदा हि यत्कार्यमुपैति किञ्चि—
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत् । २४ । अयो०, ११५ सर्ग

भरत ने अयोध्या पहुँचकर मन्त्रिमण्डल को आज्ञा दी कि इन पादुकाओं पर छत्र धारण कराओ। स्वयं उन्हें अपने सिर पर रक्खा और दुःख-पूर्वक लोगों से यह कहा कि इन्हें भगवान् राम का प्रतिनिधि समझो। यह राम की धरोहर है। जिस दिन ये पादुकाएँ और अयोध्या का राज्य—जो मेरे पास धरोहर के समान सुरक्षित रहेंगे—मैं भगवान् राम को वापस दूँगा, उसी दिन अपने को पाप से मुक्त समझूँगा।

इसके अनन्तर भरत जटा-वल्कल धारण करके मुनियों के समान नन्दिग्राम में सेना-सहित रहने लगे। राज-सिंहासन पर राम की पादुकाओं को अभिषिक्त किया और स्वयं उन पर छत्र-चामर धारण किया। जो कुछ राज-काज या भेंट आती थी, वह पहले राम की पादुकाओं के सामने पेश की जाती थी और अनन्तर भरत उसका यथायोग्य निर्णय करते थे।

भरत की इन बातों पर टीका-टिप्पणी करना हम अनावश्यक समझते हैं। हम तो पहले ही कह चुके हैं कि भरत का चरित्र पवित्र प्रेम और निर्मल भक्ति का प्रशान्त-महासागर है। विशुद्ध धार्मिकता का आकर है। यहाँ किसी नीति को स्थान नहीं। यहाँ तो सरलता, पवित्रता और निर्मलता के साथ पवित्र प्रेम और विशुद्ध भक्ति की शीतल धारा बहती है।

(उत्तरकाण्ड)

'उत्तरकाण्ड' अथवा 'उत्तर-चरित' एक प्रकार से रामायण का परिशिष्ट है। रामायण की रचना पुराणों की शैली पर तो हुई

नहीं है, जो बीच-बीच में प्रसंग-प्राप्त लम्बी-लम्बी कथाएँ इस प्रकार चल पड़ें जो प्रधान प्रकरण को ही दबा दें। उसकी रचना तो एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में हुई है, जिसमें इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए प्रधान घटनावली और प्रधान रस की पुष्टि पर विशेष ध्यान रक्खा गया है, प्रसङ्ग-वश आई हुई कथाओं और रसान्तरों का वर्णन उतना ही किया गया है, जिससे वह उन्नत-स्कन्ध होकर प्रधान को प्रच्छादित न कर सके। इसी कारण रामायण पढ़ने के बाद ऐसे अनेक प्रश्न रह जाते हैं जिनका उत्तर पाने के लिये प्रत्येक समझदार पुरुष की जिज्ञासा उठे बिना नहीं रह सकती। सम्पूर्ण रामायण पढ़ जाने के बाद भी यह नहीं विदित होता कि रावण की उत्पत्ति कैसे हुई। उसका वैभव कैसे बढ़ा, लङ्का किसने बसाई, राक्षस होने पर भी विभीषण की प्रकृति सबसे भिन्न कैसे हुई। बाली, सुग्रीव, हनूमान् आदि की जन्म-कथा क्या है और मेघनाद की शक्ति रावण से भी बढ़कर कैसे हुई, इत्यादिक अनेक प्रश्न ऐसे हैं, जिनका उत्तर बिना मिले रामायण के पढ़नेवालों की आकांक्षा शान्त नहीं हो सकती। साथ ही ये बातें ऐसी भी नहीं हैं कि रामायण की पूर्व कथाओं का अङ्ग बन सकें अर्थात् रामायण के प्रधान तथा परिपोष्य रस की पुष्टि के लिये इन बातों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल पड़ता है, इसी कारण महर्षि वाल्मीकि ने अपने रामायण महावृत्त के छः काण्डों को सरसता के विचार से पृथक् रक्खा और पाठकों के

अनिवार्य प्रश्नों के उत्तर के लिये 'उत्तर' की रचना पृथक् कर दी। वस्तुतः वाल्मीकि ने तो कहीं 'उत्तर' को काण्ड शब्द के साथ बोला ही नहीं। जहाँ-जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ-वहाँ छः काण्डों से अलग ही उसका नाम लिया है। न तो कहीं 'सप्त काण्डानि' कहा और न कहीं 'उत्तरकाण्ड' कहा। उत्तर के साथ काण्ड शब्द बाद में परम्परा-वश लोग लगाने लगे। छः काण्ड पूर्व में देखकर लोग सातवें के साथ भी काण्ड शब्द जोड़ने लगे। वाल्मीकि ने तो 'षट्काण्डानि तथोत्तरम्' (यु०कां०) 'काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना' (उ० कां०) 'सोत्तरं सभविष्यं च' (बा० कां०) इत्यादिक वचनों में बाल-काण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड पर्यन्त कहीं भी 'उत्तर' को छः काण्डों के साथ मिलाकर नहीं कहा और न कहीं उसे काण्ड कहा। महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में वह केवल रामायण का उपसंहार-मात्र है। उसके दो अंश हैं, एक उत्तर, दूसरा भविष्य। इसी से बालकाण्ड के तृतीय सर्ग में 'सोत्तरं सभविष्यं च' लिखा है। यदि 'उत्तरकाण्ड' अलग होता, तो एक 'भविष्यकाण्ड' भी होना चाहिए था। 'उत्तर' की रचना भी उत्तर के ही रूप में हुई है। राम का राज्याभिषेक होने के अनन्तर अनेक ऋषि लोग उन्हें बधाई देने आए। सबने साधुवाद और आशीर्वाद दिए। उनके मुँह से मेघनाद की अत्यन्त प्रशंसा सुनकर और उसके वध पर परम आश्चर्य की बातें सुनकर राम ने प्रश्न किया कि आप लोग रावण और कुम्भकर्ण-जैसे महापराक्रमी

राक्षसों को पीछे छोड़कर मेघनाद की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? बस, यहीं से राम के प्रश्नों और महर्षि अगस्त्य के उत्तरों का आरम्भ होता है। इसी से इस उत्तर-प्रधान प्रकरण को 'उत्तर' की संज्ञा मिली है। कुछ विषय इसमें ऐसे भी हैं, जो वाल्मीकि ने स्वयं अपनी ओर से कहे हैं। ये न तो उत्तर के रूप में हैं और न उस समय तक की अतीत कथाओं से संसृष्ट हैं, बल्कि आगे आनेवाली घटनाओं से सम्बद्ध हैं। यह पिछली राम-कथा नहीं, बल्कि राम का भविष्य है। यह भी इसी प्रकरण में विद्यमान है। इसी का नाम 'भविष्य' है। इसी से रामायण के बालकाण्ड के तृतीय सर्ग में रामायण के वर्णनीय विषयों की सूची बताते हुए महर्षि ने 'सोत्तरं सभविष्यं च' लिखा है। 'उत्तर' और 'भविष्य' दोनों इस एक ही प्रकरण में मौजूद हैं।

वस्तुतः उत्कर्ष और अपकर्ष की दृष्टि से महर्षि ने राम-कथा के दो भाग किए हैं। उत्कर्ष-प्रधान अंश को प्रथम भाग में और दूसरे को अन्तिम भाग में स्थान दिया है। पूर्व भाग छः काण्डों में समाप्त हुआ है और राम के राज्याभिषेक तक की कथा का इसमें वर्णन है। देव दुर्लभ समारोह के साथ राम का राज्याभिषेक हुआ। राम के बहुत कुछ कहने पर भी जब लक्ष्मण ने यौवराज्य स्वीकार न किया, तब भरत युवराज बनाए गए। ऋषियों, ब्राह्मणों, गुणियों और भिक्षुकादिकों को यथेच्छ दान दिए गए। महार्ह वस्त्राभूषणों और पुष्कल धन-राशियों से पुरस्कृत करके सुग्रीव, विभीषण आदि को बड़े आदर-सत्कार से बिदा

किया गया। प्रजा में बड़े आनन्द-मङ्गल के बधाये बजे। रामराज्य का आरम्भ हुआ। पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण हुई। प्रजा के सब दुख दूर हुए। सब लोग धर्म-परायण हुए। राम का आदर्श देखते हुए कोई किसी प्रकार का अनर्थ करने में प्रवृत्त न होता था। समय पर वृष्टि और सस्य होते थे। वसुन्धरा धन-धान्य से पूर्ण थी। चारो वर्ण और चारो आश्रम निर्विघ्न निरामय निवास करते थे इत्यादि।

युद्धकाण्ड के अन्त्य में इन सब बातों के लिखने के बाद सर्ग-समाप्ति के निर्देश में लिखा है…"आदिकविशिष्ययोः कुशलवयोराख्याने श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये…श्रीमद्युद्धकाण्डे पञ्चविंशेह्नि वर्तमानकथाप्रसङ्गः समाप्तः।"

इससे विदित होता है कि युद्धकाण्ड को अन्तिम कथा आदिकवि वाल्मीकि के शिष्य कुश और लव ने पचीसवें दिन सुनाई थी। इससे कई बातें सिद्ध होती हैं। कुश और लव वाल्मीकि के शिष्य थे। वाल्मीकि आदिकवि थे। उन्होंने रामायण कुश, लव को पढ़ाई थी और उन्होंने इसकी कथा सुनाई और सुनाते-सुनाते पचीसवें दिन युद्धकण्ड की समाप्ति तक पहुँचे थे इत्यादि। इस कथन में रामायण के उत्कर्ष-प्रधान पूर्व भाग की कथा के साथ-साथ उत्तर भाग की कथा को भी काव्य-कला के मार्गदर्शी महर्षि ने परम चतुरता के साथ सूत्र रूप से ओत-प्रोत कर दिया है। कुश, लव कौन थे, किसके शिष्य थे, रामायण उन्होंने क्यों पढ़ी, उनका जन्म कहाँ हुआ, रामायण क्यों बनी, कुश,

लव ने उसे कहाँ किसे और क्यों सुनाया, पचीसवें दिन का क्या मतलब इत्यादिक बातों का यथावत् विवरण उत्तर भाग में ही मिलता है। पूर्व भाग में—बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में—यद्यपि लव, कुश की नाम-मात्र चर्चा अवश्य है, परन्तु वहाँ उनका विशेष परिचय जान-बूझकर छिपाया गया है। 'राज-पुत्रौ' और 'मुनेः शिष्यौ' के सिवा और कुछ बताना, किसी कारण-वश, वहाँ उचित नहीं समझा गया है।

रामायण के आरम्भ में उसकी उत्पत्ति-कथा इस प्रकार बताई है। महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से किसी समय यह पूँछा कि आजकल सबसे बड़ा धर्मात्मा और प्रजापालन आदि अनेक गुणों से युक्त कौन है? उन्होंने उत्तर देते हुए सब गुण राम में बताए और राम के जन्म से लेकर उनके राज्याभिषेक तक की सब कथा सुना गए। राज्याभिषेक तक की कथा भूतकाल की तरह (वैसे क्रियापद देकर) बताई और कुछ वर्तमान क्रियापदों के अनन्तर भावी कथा भविष्यकाल की तरह कही। वाल्मीकीय रामायण के प्रथम सर्ग में नारद की कही यही संक्षिप्त रामायण है और अन्त में उसके पढ़ने-पढ़ाने के फल का उल्लेख है।

इसके अनन्तर नारद को विदा करके महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे मध्याह्न-सन्ध्या करने चले गए। वहाँ वह टहलने लगे। उनके सामने ही किसी व्याध ने क्रौञ्च पक्षी के आनन्द-निमग्न जोड़े में से नर को मार गिराया। इससे करुणा-मय मुनि के कोमल मन पर बड़ा आघात हुआ। उनके मुँह से

अचानक एक पद्य निकल पड़ा। वह उसी व्याध की निर्दयता और क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन का स्मरण करके व्याकुल रहने लगे। इसी अन्तर में उन्हें ब्रह्माजी के दर्शन हुए। उन्होंने उन्हें आदेश दिया कि जैसा पद्य तुम्हारे मुँह से निकला है, वैसे ही सुन्दर सरस पद्यों में तुम नारद से सुनी राम-कथा का विस्तृत वर्णन करो। राम के सब अतीत, अनागत चरित और इस कथा के सभी गुप्त रहस्य तुम्हें मेरे वरदान से प्रत्यक्षवत् भासित होंगे। ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गए और वाल्मीकि ने रामायण बनाना आरम्भ किया। उसमें क्या-क्या लिखा, इसकी पूरी विषय-सूची इसी अध्याय (बालकाण्ड के तीसरे अध्याय) में दी है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि वाल्मीकि ने राम-जन्म के दस हज़ार वर्ष पूर्व रामायण की रचना कर दी थी। इसके प्रमाण में कुछ भविष्यकाल की क्रियाएँ पेश की जाती हैं। जैसे 'दशवर्षसहस्राणि········ रामो राज्यं करिष्यति।' चातुर्वर्ण्यं च लोकेस्मिन्स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति' इत्यादि। परन्तु विचार-पूर्वक देखने पर उक्त बात ठीक नहीं जँचती। पता तो यह चलता है कि जिस समय राम का राज्याभिषेक हो चुका था, तब वाल्मीकि और नारद की उक्त भेंट हुई और वाल्मीकि ने जब रामायण बनाई, उस समय भी राम ही राज्य करते थे। जिन भविष्यत्कालिक क्रियाओं की चर्चा ऊपर आई है, वे नारद की कही संक्षिप्त राम-कथा में हैं; परन्तु वहाँ सब क्रियाएँ भविष्यत्काल की ही नहीं हैं। राम के राज्याभिषेक से पहले की

जितनी कथा कही है, उसमें सर्वत्र भूतकाल की क्रियाओं का प्रयोग है, जैसे—'पुनराख्यायिकां जल्पन्………नन्दिग्रामे ययौ', 'रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान्' इत्यादि। कुछ वर्तमान काल की क्रियाएँ भी हैं, जैसे—'नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः' इत्यादि। अन्त में भविष्यत्काल की पूर्वोक्त क्रियाएँ हैं। इससे स्पष्ट है कि राम का राज्याभिषेक उस समय हो चुका था, अतएव पूर्व कथा में सब भूतकालिक क्रियाएँ हैं। राम राज्य कर रहे थे; अतः प्रजा का धन-धान्य-पूर्ण होना, अग्नि, जल, चोर आदि का भय न होना वर्तमान काल की क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया गया है और राम आगे क्या-क्या करेंगे, इन बातों को भविष्यत् क्रियाओं से बोधित किया है। अन्यत्र भी यह स्पष्ट लिखा है कि राम की राज्य-प्राप्ति के बाद वाल्मीकि ने रामायण बनाई।

'प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ;
चकार चरितं सर्वं विचित्रपदमर्थवत्' । १ । बा० कां०, ४ सर्ग

यदि राम-जन्म के पहले रामायण बनी होती तो 'प्राप्त-राज्यस्य' के स्थान में 'अनुत्पन्नस्य रामस्य' होना चाहिए था।

यह भी विदित होता है कि वाल्मीकि और नारद के संवाद के समय तक सम्भवतः सीता-परित्याग नहीं हुआ था। यदि हुआ भी हो, तो नारद ने उसकी चर्चा नहीं की। वाल्मीकि ने ही उसकी तथा अन्य भविष्य बातों की विशेष रूप से चर्चा की है। नारद से जितनी कथा सुनी थी, उसको पूर्वभाग में रक्खा गया है और इन छः काण्डों को अलग कर दिया गया है। वाल्मीकि

ने जो कुछ लिखा है उसकी पूरी विषय-सूची भी लिख दी है। काण्डों, सर्गों और श्लोकों तक की संख्या बता दी गई है। अपनी ओर से तो उन्होंने इस प्रकार का प्रबन्ध कर दिया था कि बाहरी एक श्लोक भी रामायण में न मिलाया जा सके, परन्तु आज यह बात नहीं है। रामायण में बाद की मिलावट बहुत कुछ है। उत्तरकाण्ड में तो कई जगह प्राचीन टीकाकारों ने ही अनेक सर्गों को प्रक्षिप्त बताकर उनकी टीका नहीं की है। सूक्ष्म विचार करने पर इनकी प्रक्षिप्तता स्पष्ट भी हो जाती है, परन्तु आँख मीचकर सर्वत्र प्रक्षिप्त बताने लगना या जो बात अपनी समझ में न आए उसी को प्रक्षिप्त कहने लगना एक प्रकार से अपनी विक्षिप्तता प्रकट करना है। जिसे प्रक्षिप्त कहना है, उसके लिये पुष्ट प्रमाण और प्रबल हेतु होना चाहिए।

बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में एक पद्य है—(द्वितीय पद्य)

'चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ;
तथा सर्गशतान् पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम्' ।

रामायण की प्राचीन टीका ('कतक') के कर्ता ने इस पद्य को प्रक्षिप्त बताया है। रामाभिरामी टीका में भी उनकी इस बात का उल्लेख है। उनका कहना है कि इस श्लोक में रामायण के सर्ग आदिकों की जो संख्या बताई है, आज उससे अधिक मिलता है, अतः यह पद्य प्रक्षिप्त है। उक्त श्लोक में चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग, छः काण्ड और अन्त में उत्तर (उत्तरकाण्ड) का उल्लेख है। कतक टीकाकार का

कहना है कि आज छः काण्डों में ही पाँच सौ छत्तीस (५३६) सर्ग मिलते हैं, उत्तरकाण्ड उससे अलग है, श्लोकों की संख्या भी अधिक मिलती है एवं उक्त पद्य में उत्तरकाण्ड के सर्गों का नाम तक नहीं लिया है, अतः यह प्रक्षिप्त है, वाल्मीकि-कृत नहीं।

हम आपके इस मत से सहमत नहीं। हमारी सम्मति में उक्त टीकाकार ने जो विचार किया है वह अधूरा है, पूरा नहीं। आज वाल्मीकीय में जो कुछ मिलता है वह यदि सब-का-सब महर्षि वाल्मीकि-कृत मान लिया जाय, तभी इस पद्य को प्रक्षिप्त कहा जा सकता है, परन्तु यह बात सिद्ध नहीं है, साध्य है। पहले आप यह सिद्ध कीजिए कि रामायण में इस श्लोक के सिवा और जो कुछ है वह सब आर्ष है, उसके बाद आप इस पद्य को प्रक्षिप्त बताने के अधिकारी हो सकेंगे। यही तो प्रश्न है कि यह पद्य प्रक्षिप्त है या और बहुत-सा कूड़ा-कचरा लोगों ने वाल्मीकीय में मिला दिया है। आप एक पक्ष लेकर दूसरे को प्रक्षिप्त बताते हैं और हम पूछते हैं कि श्लोक को ठीक मानकर अन्य बहुत-सा अंश प्रक्षिप्त क्यों नहीं? सब से बड़ा मजा तो यह है कि इन्हीं टीकाकार ने उत्तरकाण्ड में २३ सर्ग से आगे पूरे पाँच सर्गों को प्रक्षिप्त बताया है। और भी कई जगह ऐसा ही है। फिर यह कैसे कह सकते हैं कि रामायण में और कुछ प्रक्षिप्त है ही नहीं?

प्रक्षिप्त अंश का अधिकांश तो देखते ही प्रतीत होने लगता है; हाँ, युक्ति-युक्त गम्भीर दृष्टि की आवश्यकता है। उत्तरकाण्ड में

एक जगह लिखा है कि रावण सीता को बड़ी भक्ति-पूर्वक ले गया था और उसने उन्हें माता की तरह लङ्का में रक्खा था। भक्ति के अनुचित उद्रेक से किसी वैष्णव सज्जन ने शायद यह गल्प गढ़ी है। यदि मातृवत् रक्खा था, तो सीता की अनेक प्रार्थनाओं पर उसने आज्ञाकारी पुत्र की तरह उन्हें राम के पास क्यों न पहुँचा दिया? फिर अशोक-वाटिका में दुःखित माता को राक्षसियों से घोर त्रास क्यों दिलवाया? राम को क्या पिता समझकर उनसे उसने युद्ध किया था? सीता तो हनूमान् से सुन्दरकाण्ड में कहती हैं कि रावण ने कई बार मुझसे अपनी भार्या बनने को कहा, परन्तु मैंने उसका तिरस्कार कर दिया। लेकिन उक्त सज्जन कहते हैं कि 'मातृवच्चाभिरक्षिता'। यदि यही बात थी, तो विभीषण रावण से फूटकर क्यों भागे? इससे स्पष्ट है कि यह अंश प्रक्षिप्त है। यदि इसे ठीक मानें तो रामायण के अनेक अंश विरुद्ध पड़ेंगे। हाँ, अध्यात्मरामायण में यह बात अवश्य लिखी है, परन्तु हमें इस समय उस पर विचार नहीं करना है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी हमारी समझ में वाल्मीकीय के समान नहीं है। परन्तु पूर्वोक्त पद्य की दशा इसके विपरीत है। चौबीस हज़ार श्लोक, सौ उपाख्यान और पाँच सौ काण्डों की बात कई जगह दोहराई गई है। कुश, लव से रामायण सुनकर जब राम ने आश्चर्यान्वित होकर उनसे पूछा कि यह काव्य कितना बड़ा है, तब उन्होंने यही कहा कि—

'संनिबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम्;

उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विना। २५।

आदिप्रभृति वै राजन् पञ्चसर्गशतानि च;

षट् काण्डानि कृतानीह सोत्तराणि महात्मना'। २६। उत्तर०, ६४

अर्थात् इसमें चौबीस हज़ार श्लोक हैं। सौ उपाख्यान हैं। और आदि से लेकर छः काण्डों में पाँच सौ सर्ग हैं। इसके बाद 'उत्तर' (उत्तरकाण्ड) है। यह प्रक्षिप्त अंश की चोरी पकड़ने के लिये एक कुञ्जी है। प्राचीन समय में अधिकांश लेखकगण अपने निबन्धों की श्लोक-संख्या दे दिया करते थे। पद्यों में ही नहीं, गद्य-ग्रन्थों में भी अक्षरों को गिनकर और बत्तीस अक्षरों का एक अनुष्टुप् छन्द मानकर उसके अनुसार सम्पूर्ण ग्रन्थ की संख्या का निर्देश किया जाता था। सिद्धान्तकौमुदी, शब्देन्दु-शेखर और भामती आदि प्रसिद्ध बड़े-बड़े गद्य-ग्रन्थों की संख्या भी आज संस्कृत के विद्वानों में परम्परा से प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त सौ उपाख्यानों की सूची भी वाल्मीकीय बालकाण्ड के तृतीय सर्ग में दे दी गई है। 'जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम्' इत्यादिक पद्यों में राम-जन्म से सब कथा के उपाख्यानों की सूची आरम्भ होती है और 'रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम्' यहाँ तक राम के राज्याभिषेक और समस्त वानर-सेना की बिदाई की बात समाप्त होती है। इसके अनन्तर राम का प्रजा-रञ्जन, ('स्वराष्ट्र-रञ्जन') वैदेही का विसर्जन (त्याग) और 'अनागत' अर्थात् जो कुछ बातें उस समय तक नहीं हो पाई थीं, भविष्य के गर्भ में प्रच्छन्न थीं, उन

सबका संकलन 'उत्तरकाव्य' में किया गया है। ('तच्चकारोत्तरे काव्ये')

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'उत्तर' के साथ काण्ड शब्द का प्रयोग यहाँ भी नहीं किया गया है। और स्थानों पर तो यह कहा जा सकता है कि छन्द के अनुरोध से 'काण्ड' शब्द नहीं आ सका, परन्तु यहाँ तो 'काव्य' के स्थान में 'काण्ड' शब्द का प्रयोग बड़ी सुगमता से हो सकता था। वास्तव में वाल्मीकि ने राम-कथा रूप वृक्ष के छः काण्डों को उत्कर्ष-प्रधान कथांश तक ही परिमित रक्खा है। अपकर्ष की बातों को उसमें स्थान नहीं दिया। वहाँ से तो उस वृक्ष का सूखना, मुरझाना और छिन्न-भिन्न होना आरम्भ हो गया है। महाकवियों के आदि मार्गदर्शी महर्षि यह नहीं चाहते थे कि उनके हरे-भरे वृक्ष के काण्डों में ही उसके कीड़ा लगने की बात स्थान पाए। वृक्ष का काण्ड वही हो सकता है, जिससे वृक्ष की पुष्टि हो और उसकी शोभा बढ़े। वृक्षच्छेद की कथा उसका काण्ड या अङ्ग कैसे बन सकती है? इसी 'औचित्य विचार' के अनुसार 'सीता-परित्याग' से आगे की कथा को काण्डों के बाहर कर दिया गया है। पाँच सौ सर्ग भी इन्हीं छः काण्डों के हैं। उत्तर के सर्गों का इसमें निर्देश नहीं है। 'पञ्चसर्गशतानि' यह पद 'षट् काण्डानि' का ही विशेषण है। वाल्मीकि ने कुश-लव को केवल बीस सर्ग रोज़ पढ़ने (या गाने) की आज्ञा दी थी और युद्धकाण्ड की अन्तिम कथा पचीसवें दिन समाप्त हुई थी।

इस प्रकार बीस को पचीस से गुणन करने से (२०×२५= ५००) पाँच सौ होते हैं। इससे स्पष्ट है कि युद्धकाण्ड तक की वर्तमान सर्ग-संख्या (५३६) में छत्तीस सर्ग प्रक्षिप्त हैं। वाल्मीकि के बनाए केवल पाँच सौ सर्ग हैं।

यह कहना भी कठिन है कि 'उत्तर' की कितनी रचना वाल्मीकि ने राम के अश्वमेध-यज्ञ में जाने से पूर्व की थी और कितनी उसके अनन्तर हुई। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रामाश्वमेध के समय सीता का परित्याग अवश्य हो चुका था और कुश-लव सयाने हो चुके थे। आरम्भ में (बालकाण्ड में) सौ उपाख्यानों की सूची के अन्त्य में 'उत्तर' की विषय-सूची देते हुए लिखा है कि 'स्वराष्ट्र-रञ्जन' 'वैदेही-विसर्जन' और राम का भविष्य 'उत्तर' में लिखा है—

> 'स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्। ३८।
>
> अनागतं च यत्किञ्चद्रामस्य वसुधातले;
>
> तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः। ३९। बा० कां०, ३ सर्ग

बहुत-से लोग समस्त उत्तरकाण्ड को ही प्रक्षिप्त बताने का दुःसाहस कर बैठते हैं। हम कह चुके हैं कि उत्तर की कथा अनिवार्य रूप से उपादेय है। उसके बिना पूर्वभाग की आकांक्षा पूर्ण ही नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यदि उत्तरकाण्ड की कथा न होती, तो सम्भवतः 'रामायण' का जन्म ही न हुआ होता। वाल्मीकि ने उसके बिना यह ग्रन्थ लिखा ही न होता। इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

कुश-लव ने रामायण किस प्रकार लोगों को सुनाई और किस प्रकार राम के पास तक इन दोनो बालकों की पहुँच हुई, एवं रामायण सुनकर लोग किस प्रकार प्रभावित हुए, यह बात बाल-काण्ड और 'उत्तर' दोनो में आई है। आदि में सामान्य रूप से है और अन्त्य में विशेष घटना के साथ। आरम्भ में लिखा है कि इस प्रकार इतनी रामायण बना चुकने के बाद वाल्मीकि ने सोचा कि अब इसका प्रयोग कौन कर सकेगा ? कारण यह कि रामायण पाठ्यजाति का काव्य होने पर भी उन्होंने इसे गेयजाति से संवलित किया था। इसका प्रयोग वही कर सकता था, जो पण्डित होने के साथ ही गायक भी हो। आजकल के कोरे गवैए प्राचीन ध्रुवपदों के शब्दों की जैसी रेड़ मारते हैं, वह सभी ने सुना होगा। एक मुसलमान उस्ताद गवैए को हमने एक ध्रुपद में 'बैगन हिरन' गाते सुना। बात कुछ समझ में न आई। दूसरे पदों से इसके अर्थ का कोई सम्बन्ध न था। उनसे पूछा तो मालूम हुआ कि उनके उस्ताद ने इसी तरह सिखाया है। उस्ताद-के-उस्ताद लखनऊ के प्रसिद्ध मुसलमान रईस (जो गान-विद्या के विशारद हैं) थे। उनकी एक उर्दू-पुस्तक को देखने का एक बार अवसर हुआ। वही ध्रुपद देखा। उसमें सब वर्णन तो गणेशजी का था, लेकिन बीच में 'बैगनहिरन' घुसा था। तब समझ में आया कि वास्तव में संस्कृत के 'विघ्नहरण' शब्द को कुछ तो सर्पाकार उर्दू-अक्षरों की कृपा से और कुछ इन उस्तादों की अर्थानभिज्ञता से यह 'बैगनहिरन' का रूप प्राप्त हुआ है।

अभी उस दिन हमारे श्रद्धेय मित्र संगीत-शास्त्र के धुरंधर आचार्य श्री पं० विष्णुनारायण भातखण्डेजी ने बताया कि एक उस्ताद गाते थे—'लास्य अरु ताण्डव नाचत-गावत नृत्य करत बम्बा'। पता लगाने पर मालूम हुआ कि वास्तव शब्द 'रम्भा' है। उसी को भ्रष्ट करके मुसलमान उस्तादों ने 'बम्बा' बनाके अनर्थ किया है। हमने एक उस्ताद से सुना था—'नन्दगाम को छपरा बरसाने की नाली'—वास्तव में पाठ है 'नन्दगाम को छोहरा बरसाने की नारि'। कृष्ण और राधा को उस्ताद ने 'छपरा' और 'नाली' बना डाला था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोरे गवैए—जो शब्दों का अर्थ और भाव नहीं समझते—कैसा अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। वाल्मीकि को ऐसे गवैयों से रामायण का प्रयोग कराना अभीष्ट नहीं था। इसके साथ ही वह ऐसे बेसुरे पण्डितों का भी नहीं चाहते थे, जो अपने शंख-स्वर से चीत्कार करके, रेंकते हुए गर्दभों का स्मरण कराएँ। वाल्मीकि की चिन्ता का यही तात्पर्य था। उन्हें जो चिन्ता हुई कि रामायण का कौन प्रयोग करेगा, उसका यही रहस्य था। 'चिन्तयामास को न्वेतत्प्रयुञ्जीयादितिप्रभुः' का यही मर्म है। इसी समय कुश और लव ने आकर उन्हें प्रणाम किया। ये दोनो भाई उन दिनों उन्हीं के आश्रम में रहते थे। पढ़े-लिखे बुद्धिमान् तो थे ही, साथ ही गान-विद्या में भी निपुण थे और कण्ठ-स्वर भी इनका अत्यन्त मधुर तथा आकर्षक था। इन्हीं को महर्षि ने रामायण का उपयुक्त पात्र समझा।

'कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यसहोत्तरम् ;
चिन्तयामास को न्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः । ३ ।
कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ;
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ । ५ ।
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ;
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः' । ६ । बा० कां०, ४ सर्ग

महर्षि वाल्मीकि संगीत-शास्त्र में भी परम प्रवीण थे। लव, कुश को उन्हीं ने वीणा बजाना और गाना सिखाया था। रामायण 'पाठ्यजाति' और 'गेयजाति' में मधुर है। तीन 'प्रमाण' और 'सात जातियों' से युक्त है। ताल और स्वर ('तन्त्री-लय') से सम्पन्न है। इसमें सात 'जाति' हैं। उनसे 'शृङ्गार' आदिक सातों 'रस' पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं। कुश-लव संगीत-शास्त्र के तत्त्वज्ञ थे। 'स्थान' और 'मूर्च्छना' के पण्डित थे। उन्होंने इस रामायण का यथावत् प्रयोग कर दिखाया और 'मार्ग-विधान' के अनुसार इसे गाया। ये बातें बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में लिखी हैं। इसमें संगीत-शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द हैं। इन पर विचार करने से वाल्मीकि के गम्भीर संगीत-शास्त्र ज्ञान के साथ-साथ रामायण की अत्यन्त प्राचीनता भी सिद्ध होती है। आजकल के बड़े-बड़े उस्ताद गवैए भी इन पारिभषिक शब्दों की यथार्थता नहीं समझ सकते।

'पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ;
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् । ८ ।

रसैः श्रृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ;

वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् । ९ ।

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ' । १० ।

'ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधान सम्पदा' । ३६ ।

बा० कां०, ४ सर्ग

भरत मुनि-कृत 'नाट्य-शास्त्र' के २८वें अध्याय में 'जातियों' का सविशेष वर्णन है और उसी के आगे किस 'जाति' से किन-किन स्वरों के संयोग और वियोग से कौन-कौन रस उत्पन्न होते हैं, यह बताया है। संगीत-शास्त्र की प्राचीन पुस्तकों में 'मार्ग' और 'देशी' नाम से गायन के दो भेद लिखे मिलते हैं और साथ ही यह भी मिलता है कि 'मार्ग' गीत अब लुप्त हो गया। देवताओं, गन्धर्वों और किन्नर आदिकों में इसका प्रयोग था। मनुष्यों में भरत आदिकों ने इसका प्रयोग किया था। वेद के समान इसके गाने में कठिन नियम थे और यज्ञानुष्ठान के समान इसके नियम अनुल्लङ्घनीय थे। आजकल केवल देशी संगीत गाया जाता है।

आजकल उपलभ्यमान संगीत-ग्रन्थों में 'रागरत्नाकर' सबसे प्राचीन है। इसका निर्माण-काल तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी में माना जाता है। परन्तु आज न तो इसके राग गाए जाते हैं, न इसके निर्दिष्ट स्वर ही आज प्रचलित हैं। आजकल बाईस श्रुतियों में से प्रथम श्रुति पर षड्ज स्वर की उत्पत्ति मानी जाती है और प्राचीन समय में वह तीसरी श्रुति पर मानी

जाती थी। आज षडज और ऋषभ के बीच में चार श्रुतियों का अन्तर पड़ता है, परन्तु प्राचीन काल में केवल तीन श्रुतियाँ बीच में रहती थीं। श्रुतियों में कभी कोई भेद हो ही नहीं सकता। वे तो प्राकृतिक नियम पर अवलम्बित हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो कालों में इन्हें कोई बाल भर भी नहीं हिला सकता। प्राकृतिक नियम से जो ध्वनि-चक्र उत्पन्न होता है उसके बाईस से न्यूनाधिक भाग हो ही नहीं सकते। तेईसवाँ भाग प्रथम भाग में विलीन हो जाने के कारण तद्रूप ही माना जाता है। पूर्व समय में प्रत्येक स्वर की श्रुतियाँ उसके पहले आती थीं और आज उसके अन्त्य में आती हैं। षड्ज की चार और ऋषभ की तीन श्रुतियाँ मानी जाती हैं। जब प्रथम श्रुति पर षड्ज स्वर क़ायम करते हैं, तब उसके आगे चार श्रुतियाँ छोड़कर ऋषभ बोलता है, अतः इन दोनो के बीच चार श्रुति का अन्तर रहता है, परन्तु यदि तीसरी श्रुति पर षड्ज क़ायम करें, तो उसके आगे ऋषभ की केवल दो ही श्रुतियाँ बचती हैं। प्राचीन और अर्वाचीन श्रुति-संख्या के भेद का केवल यही कारण है। आज श्रुति-विन्यास के लिये यह नियम माना जाता है—

'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ;
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिऋषभधैवतौ।

परन्तु भरत मुनि ने इनका विन्यास इस प्रकार लिखा है—

'तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च ;
द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम्।

आज तो केवल षड्ज ग्राम ही रह गया है, परन्तु भरत ने मध्यम ग्राम का भी वर्णन किया है। गान्धार ग्राम कब से लुप्त हो गया, इसका ठीक पता नहीं चलता। सम्भव है वैदिक समय में वह रहा हो और तब से अब तक उसका नाम बराबर चला आता हो।

भरत का समय अत्यन्त प्राचीन है। कालिदास और उनके पूर्ववर्ती नाटककारों ने भी भरत की चर्चा की है। महाभारत में सभी कोरव-पाण्डवों को 'भरतर्षभ' कहा है। यह भरत राम के भाई नहीं हो सकते, क्योंकि युधिष्ठिर आदि चन्द्र-वंशी थे और राम सूर्यवंशी। हाँ, राजा पुरु चन्द्रमा की सन्तति में थे और राजा दुःष्यन्त पौरव (पुरुवंशी) कहाते थे। इनसे शकुन्तला के जो पुत्र (आयु) पैदा हुए, उन्हें ऋषि के वरदान से 'भरत' संज्ञा प्राप्त हुई और इन्हीं के नाम से 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ। महाभारत-युद्ध और इस नाम की पुस्तक की संज्ञा भी इसी आधार पर हुई। 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भी यही भरत हो सकते हैं। अप्सराओं की शिरोमणि मेनका इनकी नानी थी और राजर्षिप्रवर विश्वामित्र (उस समय तक ब्रह्मर्षि नहीं हुए थे) इनके नाना थे। इस सम्बन्ध से शकुन्तला के पुत्र में गाने-बजाने की विशेषज्ञता और नाट्य-शास्त्र का आचार्यत्व होना स्वभाव-संगत प्रतीत होता है।

इन्ही भरत ने 'मार्ग-गीत' का यथावत् प्रयोग किया था। और बाद में वह लुप्त होकर 'देशी' सङ्गीत ही सर्वत्र प्रचलित हुआ। आज का प्रचलित 'देशी' सङ्गीत छः-सात सौ वर्ष पुराने

'देशी' सङ्गीत से भी भिन्न हो गया है। सारांश यह कि 'मार्ग' संज्ञक गान-पद्धति दो हजार वर्ष से इधर तो किसी ने सुनी नहीं। महाभारत के समय में भी उसके होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। आज 'मेघ', 'श्री', 'भैरव' आदि नाम से जो राग प्रसिद्ध हैं, वे भी प्राचीन समय में प्रचलित नहीं थे। उस समय केवल 'जाति' गाई जाती थी। आगे चलकर इन्हीं जातियों से रागों की उत्पत्ति हुई है। भरत के समय में १८ प्रकार की जातियाँ प्रचलित थीं। शुद्ध, विकृत और सङ्कीर्ण भेद से इनके अनेक रूप बनते थे। ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडुवित भेद से ये सब जातियाँ दस भेदों में बट जाती थीं। जिस स्वर से 'जाति' का गायन आरम्भ होता था, उसे 'ग्रह' कहते थे। 'अंश' इसमें सबसे महत्त्व की वस्तु थी। उसका लक्षण है—

'रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते ;
मन्द्रतारविधया च पचस्वरपरागतिः।
अनेकस्वरसंयोगे योऽत्यर्थमुपलभ्यते ;
अन्यश्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि।
ग्रहापन्यासविन्यासन्याससंन्यासगोचरः ;
परिचार्य स्थितो यस्तु सोंशः स्याद्दशलक्षणः'।

'जाति' का 'अंश स्वर' वह होता है जिसमें 'राग' (जाति-विशेष का स्वरूप) निवास करे और उसी से उत्पन्न हो, गाने में बार-बार उसकी आवृत्ति हो, संवादी और अनुवादी

स्वर जिसके सहायक हों और ग्रह, अपन्यास, विन्यास, 'न्यास और संन्यास में जिस स्वर का प्रचुर प्रचार हो। जिस स्वर से गायन आरम्भ हो वह ग्रह, जिस पर समाप्त हो वह संन्यास, अवान्तर समाप्तिवाला अपन्यास इत्यादि उक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है। तान, मूर्च्छना, अलङ्कार आदिकों का भी वर्णन है। ये सब जातियों के गाने में सहायक होते थे।'

ये सब जातियाँ सर्वत्र नहीं गाई जा सकती थीं। रस-विशेष में जाति-विशेष का प्रयोग होता था। शृङ्गार-रस में 'षड्जोदीच्यवती'-नामक जाति का प्रयोग होता था। इसमें 'मध्यम' स्वर 'अंश' बनाया जाता था। हास्य-रस प्रधान गाने में 'पञ्चम' स्वर की बहुलता रहती थी। वीर, रौद्र और अद्-भुत रसों में 'षाड्जी' और 'आर्षभी' जाति प्रयुक्त होती थी। करुण-रस में 'नैषादी' और 'षड्जकैशिकी' जाति को स्थान मिलता था। इसमें 'निषाद' और 'गान्धार' स्वर प्रधान रहते थे। बीभत्स और भयानक रसों में 'धैवती' 'जाति' और धैवत 'अंश' होता था, इत्यादि वर्णन भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के २६वें सर्ग में किया है।

'षड्जोदीच्यकरं चैव बहुमध्यं तथैव च ;
मध्यपञ्चमबाहुल्यात्कार्यं शृंगारहास्ययोः।
'षाड्जी त्वथार्षभी चैव स्वरांशपरितस्पृहात् (?)
वीररौद्राद्भुतेष्वेते प्रयोज्ये गानयोक्तृभिः ;
करुणे च रसे कार्या जातिर्गानविशारदैः।

धैवती धैवतांशे तु बीभत्से सभयानके ;
धैवती करुणे योज्या चोन्मादे षड्जमध्यमा' ।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन समय में सङ्गीत के स्वरों का शृङ्गार आदि रसों के अनुरूप ही प्रयोग किया जाता था। रस और राग का घनिष्ठ सम्बन्ध था। साहित्य और सङ्गीत एक साथ चलते थे। शृङ्गार-रस का काव्य उसी रस की 'जाति' (या राग) में गाया जाता था और वीर आदि भी अपनी-अपनी जातियों में ही गाए जाते थे। परन्तु आजकल के गवैए इन सब बातों से नितान्त अनभिज्ञ होते हैं। ये लोग शृङ्गार-रस के पदों को बीभत्स-रस के स्वरों में गाने लगते हैं और रौद्र रस के काव्य को करुण-रस के स्वरों में आलापने लगते हैं। इन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि किस रस में किन स्वरों का उपयोग करना चाहिए। फलतः इनके गाने में रस नहीं होता, केवल स्वरों के उतार-चढ़ाव, मींड, या तानों की कसरत-मात्र देखने को मिलती है। इस कसरत में परिश्रम भले ही प्रतीत हो, परन्तु जीवन नहीं दीखता। काव्य और सङ्गीत की आत्मा 'रस' ही है। 'रस' ही रञ्जन का कारण है। जब रस ही नहीं तो रञ्जन कैसा? और रञ्जन के विना 'राग' कैसा। 'रञ्जनाद्राग इत्याहुः।' जो दशा चमत्कार या रस से हीन काव्य की होती है, वही रस-हीन या रञ्जन-हीन सङ्गीत की होती है। दो वीरों के युद्ध या दो पहलवानों की कुश्ती में, देखनेवालों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह दो मोटरों का

टकराना या दो रेलगाड़ियों का लड़ना देखने में नहीं होता। दो चेतन लड़नेवालों में दाव-पेंच, ताक-घात, उखेड़-पछाड़, आत्मरक्षा और विपक्ष-पराभव की जो चेष्टाएँ दीखती हैं, वह टकराती हुई मोटरों में नहीं दीख सकतीं। निर्जीव (नीरस) गायन और काव्य की भी यही दशा है। भर्तृहरि ने 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीन' पुरुष को 'साक्षात्पशु' बताया है, परन्तु आज साहित्य और सङ्गीत जानने के बाद भी लोग 'साक्षात्पशु' ही बने रहते हैं, क्योंकि साहित्य जाननेवाले सङ्गीत-ज्ञान से एकदम कोरे रहते हैं और सङ्गीत के विशारदों को साहित्य का 'काला अक्षर भैंस बराबर' दीखता है। आजकल के बड़े-बड़े गवैयों में शायद ही कोई ऐसा हो, जिसके गाने में आदि से अन्त तक 'आ—आ' के सिवा एक भी शब्द समझ पड़ता हो। परन्तु प्राचीन समय में यह बात नहीं थी। उस समय 'पाठ्य' और 'गेय' संङ्ग-सङ्ग चला करते थे। पाठ्य 'जाति' में पाठ की प्रधानता और सङ्गीत सहायक होता था, एवं गेय 'जाति' में सङ्गीत की प्रधानता और पाठ की गौणता रहती थी, किन्तु रहते दोनों साथ-ही-साथ थे। भरत ने गाने में 'तान' आदि का वर्णन भी किया है। वाल्मीकि ने अपना काव्य पाठ्य-प्रधान बनाया था और गेय 'जाति' से इसे अलङ्कृत किया था। कुश-लव से सुनी रामायण के सम्बन्ध में उत्तरकाण्ड (६४ सर्ग) में लिखा है—

'तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम्;
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलङ्कृताम्। २।

प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तन्त्रीलयसमन्विताम्'

वाल्मीकि का समय भरत से भी अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। भरत के समय में पचासों 'जातियाँ' (भेदोपभेद-सहित) बन गई थीं। अठारह जातियाँ तो प्रधान रूप से परिगणित होती थीं, परन्तु वाल्मीकि के समय में केवल सात ही जातियाँ मानी जाती थीं। भरत के बाद 'मार्ग' गीत का विलोप हो गया। उनके समय में ही शायद 'देशी' सङ्गीत का आरम्भ हो गया था। परन्तु वाल्मीकि के समय में 'मार्ग' सङ्गीत अपने पूर्ण यौवन-काल में था। काव्यों के गायन में भी उसी का आश्रय लिया जाता था। 'देशी' का उस समय जन्म ही नहीं हुआ था, इसी कारण रामायण गाने के सम्बन्ध में—

'ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितौ—

अगायतां मार्गविधानसम्पदा'। बा० कां०, ४ सर्ग

यह लिखा हुआ है। इसमें 'मार्गविधान' के साथ 'अगायताम्' को मिलाकर अर्थ समझिए, तो रहस्य का पता चलेगा।

वाल्मीकीय रामायण में सैकड़ों प्रयोग ऐसे हैं जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सिद्ध नहीं हो सकते। पाणिनीय व्याकरण का प्रचार होने के बाद लोगों में इसके विरुद्ध प्रयोग करने की हिम्मत नहीं रह गई थी। अन्य व्याकरण क्रमशः लुप्त होते गए थे। कालिदास और उनके पूर्ववर्ती भास आदि कवियों की कृति में इने-गिने दो-चार शब्द पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध उपलब्ध होते हैं, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट है कि

वाल्मीकि का समय पाणिनि ऋषि से भी पूर्व है। पाणिनि के सम्बन्ध में इलाहाबाद के 'पाणिनि-आफ़िस' ने बड़ी खोज और अनुसन्धान के बाद यह निश्चय किया है कि उनका समय 'महाभारत' से थोड़ा ही पीछे आज से लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्ष पूर्व है। इस प्रकार वाल्मीकि का समय इससे भी पूर्व ठहरता है।

कालिदास के 'रघुवंश' का आरम्भ ही रामायण कथा के आधार पर हुआ है। वाल्मीकि के 'शोकः श्लोकत्वमागतः' का रूपान्तर ही कालिदास ने इस प्रकार किया है—

'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः ;
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'।

भास कवि के 'प्रतिमा'-नाटक में भी राम-कथा का ही निबन्धन है। महाभारत में भी राम-कथा का उल्लेख मिलता है, परन्तु रामायण में महाभारत की कोई बात नहीं मिलती। इससे सिद्ध है कि रामायण का काल महाभारत से भी पूर्व है।

वाल्मीकीय रामायण जब बनी थी, उस समय मनुष्य-जाति के बीच में उसकी पूर्ण विकसित और अर्थ विकसित दोनो प्रकार की शाखाएँ मौजूद थीं। एक में राम आदि थे, दूसरी में सुग्रीव आदि। 'वालि-वध' के प्रकरण में हम यह दिखा चुके हैं कि वाली, सुग्रीव, हनूमान् आदि आजकल के बन्दरों की तरह नहीं थे। वाल्मीकि के प्रमाणों से ही इन वानरों के राज्य-व्यवस्था चलाने, कपड़े पहनने, जूते पहनने, छतरी लगाने, पालकियों पर

चढ़ने, संस्कृत बोलने, व्याकरण पढ़ने, गुप्तचर रखने, ब्राह्मणों को भोजन परोसने आदि की बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं।

'वानराश्च महात्मानः सुग्रीवसहितास्तदा ।

परिवेषणं च विप्राणां प्रयताः संप्रचक्रिरे' । यु० कां०, ३२ सर्ग

इसी के साथ-साथ इनके शरीर पर बड़े-बड़े बाल होने, पूँछ होने, वृक्षों पर चढ़ने, वृक्षों की शाखा तथा पत्थरों से युद्ध करने और जङ्गलों, पहाड़ों में रहने आदि की बातों का भी उल्लेख मिलता है। इसी से ये लोग 'वानर' कहाते थे। यह मनुष्य-जाति की वह शाखा थी, जो उस समय तक पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त हुई थी। मनुष्यत्व के साथ-साथ जङ्गलीपन भी इसमें मौजूद था और शरीर में पुच्छ भी थी। ये लोग दण्डकारण्य से लेकर समुद्र-तट तक निवास करते थे। आज भी मद्रास-प्रान्त में 'वानर-जाति' के वंशधर विद्यमान हैं। पिचके हुए गाल, उठी हुई गण्डास्थि, अन्दर घुसी हुई आँखें, बैठी नाक, चपटा चेहरा, लम्बी ठोड़ी और हाथ-पैरों में पतली-पतली तथा लम्बी उँगलियाँ आज भी इनकी 'वानर-जाति' के सच्चे साक्षी विद्यमान हैं। हाँ, दुम नहीं है। उन्नति की रगड़ से वह घिस चुकी है, परन्तु आज भी ये लोग अपने को 'वानर-जाति' का ही बताते हैं। इनके घरों में स्त्रियाँ आज भी राम-कथा इस प्रकार कहती हैं कि 'हमारे अमुक पूर्वजने राम के साथ जाकर लङ्का में युद्ध किया और रावण को जीतकर उन्हें सीता दिलाई' इत्यादि। कुछ समय पूर्व बड़े लाट की सभा में एक इसी जाति के सज्जन मेम्बर थे। वह अपने को

'M. K. वानर' लिखा करते थे। उन्होंने एक लेख भी (सम्भवतः 'माडर्न रिव्यू' में) लिखा था, जिसमें पूर्वोक्त कारण दिखाते हुए अपने को सुग्रीव आदि वानरों का वंशधर सिद्ध किया था।

अब देखना यह है कि रामायण में वर्णित वानरों के स्वरूप से दुम घिसकर वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने में इस जाति ने कितने वर्ष लगाए होंगे। जातियों के स्वरूप-परिवर्तन में लाखों वर्ष एक पल के समान बीता करते हैं। विश्वास न हो तो डारविन साहब से पूछ देखिए। उनका मत आजकल के वैज्ञानिकों में प्रायः सर्व-सम्मत सिद्धान्त माना जाता है। अब रामायण की प्राचीनता का अनुमान लगाइए। 'महाभारत' के समय में इस प्रकार की किसी जाति का उल्लेख नहीं मिलता। शायद उस समय तक दुम दब चुकी थी और बड़े-बड़े बाल विलीन हो चुके थे। रामायण का समय उससे कितने पूर्व मानना चाहिए, इसका निर्णय हम आपकी ही बुद्धि पर छोड़ते हैं। यह बात तो हम प्रमाणित कर चुके हैं कि रामायण राम के समकाल में ही लिखी गई थी। यह सम्भव नहीं है कि किसी परिमार्जित जाति को देखकर कोई उसके अनेक सहस्र वर्ष पुराने अपरिमार्जित रूप का स्वाभाविक वर्णन कर सके। आजकल के अँगरेजों को देखकर कोई इनके पाँच सौ वर्ष पुराने हूशपन और जङ्गलीपन का भी सच्चा चित्र नहीं खींच सकता। यह सम्भव ही नहीं कि कोई कवि अपने समय में अविद्यमान किसी जाति का ऐसा स्वाभाविक वर्णन करे।

अब रही यह बात कि इतनी प्राचीन पुस्तक अब तक बची कैसे ? इसकी न पूछिए। इन 'कालों' की कला निराली है। संसार में सर्व-प्रथम मानी जानेवाली 'ऋग्वेद-संहिता' जब आज तक मौजूद है, तो वाल्मीकीय के सम्बन्ध में क्या पूछना है ? यह बात तो विलायती गोरों को भी आज झखमारकर माननी पड़ी है कि 'ऋग्वेद' से पुरानी पुस्तक संसार में कोई नहीं है। मुसलमानों के सैकड़ों राक्षसी आक्रमणों और हज़ारों गृह-कलहों के बाद भी संस्कृत-साहित्य में जो दिव्य रत्न उपलब्ध होते हैं वे आज समस्त संसार को चकित कर रहे हैं। दो-दो हज़ार वर्ष की पुरानी ताल-पत्रों पर लिखी पुस्तकें आज ऐसी मिलती हैं, जो अभी और इतने ही समय तक निर्विघ्न जीवित रह सकती हैं। लोहे की क़लम, ताल के पत्ते और संखिए की पुट की बदौलत शायद चार-छः हज़ार वर्ष बाद एक पुस्तक की नक़ल करने की आवश्यकता पड़ती थी। फिर 'विद्या कंठ और पैसा गंठ' की पुरानी लोकोक्ति भी यही बताती है कि यहाँ कंठ करने की प्रथा का बहुत प्रचार था। प्राचीन पुस्तकों के विपत्ति से बचे रहने का बहुत कुछ श्रेय इसी प्रथा को है। सबसे बड़ा ईश्वरीय वरदान है संस्कृत-भाषा। आज दो हज़ार वर्ष पुराने कालिदास और पाँच हज़ार वर्ष पुराने व्यास की बातें हम उतनी ही सुगमता से समझ सकते हैं, जैसे सामने बैठे किसी हिन्दी बोलनेवाले की। इस 'अमर भारती' की महिमा ने ही भारत की सभ्यता को अमर बनाया है। भारत को सदा

अपना दास बनाए रखने की कदिच्छा से हमारे इतिहास को भ्रष्ट करने की कुचेष्टा करनेवाले विलायती कूटनीतिज्ञ कुचक्रियों की चालें इसी विशाल शिला पर आकर चकनाचूर हुआ करती हैं। विदेशियों द्वारा बराबर 'मृत भाषा' बताई जानेवाली यही 'अमर भारती' (संस्कृत) आज तक हिन्दू-सभ्यता को अमर बनाए हुए है।

राम और कृष्ण को हमारे इतिहास से पृथक् करने के लिये क्या-क्या शरारत नहीं की गई? संस्कृत से अनभिज्ञ पाश्चात्य शिक्षा में निमग्न हमारी नवीन पीढ़ी को पथ-भ्रष्ट करने के लिये रामायण और महाभारत के सम्बन्ध में कितनी-कितनी भ्रष्ट धारणाएँ नहीं कराई गईं। परन्तु वास्तविक ग्रन्थों को मूल-भाषा में देखने और समझने के बाद सभी कुचेष्टाएँ प्रकट हो जाती हैं और सभी भ्रान्त धारणाएँ निर्मूल हो जाती हैं। बहकते वे ही लोग हैं, जिन्होंने मूल-ग्रन्थों को तो कभी देखा नहीं, केवल 'गोरे गुरुओं' के स्वार्थ-पूर्ण गपोड़ों के चक्कर में पड़कर अपनी असलियत खो बैठे हैं। बंकिम बाबू ने रामायण की आलोचना में शायद 'व्हीलर साहब' की कृति पर एक पुस्तक लिखी है। उसके देखने से प्रतीत होता है कि वास्तविक घटनाओं से नितान्त अपरिचित होने पर भी ये लोग किस उद्दण्डता, धृष्टता और निर्लज्जता के साथ भारतीय पवित्र साहित्य को बदनाम करने की कुचेष्टाएँ किया करते हैं।

वाल्मीकीय का ऐतिहासिक महत्त्व घटाने की कुचेष्टा में

प्रच्छन्न पातक करनेवाले स्वार्थान्ध गारों की प्रधान कामना यह है कि किसी प्रकार रामायण बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद की बनी सिद्ध हो जाय। इसके लिये सबसे प्रधान दलील यह दी जाती है कि बुद्ध ने कहीं पर रामायण का नामोल्लेख नहीं किया। यदि उनके पूर्व राम या रामायण की सत्ता होती, तो वह इनका कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते।

क्या मज़ेदार बात है ! क़ुरान में काशी और बाइबिल में वृन्दावन की चर्चा यदि नहीं है तो मान लेना चाहिए कि ये दोनो स्थान उक्त पुस्तकों के लिखने के समय थे ही नहीं। यदि होते तो उनमें इनका नाम अवश्य होता। क्यों ? इसलिये कि ये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यदि 'साइमन-रिपोर्ट' में आगरे के ताज-महल का वर्णन नहीं है तो मान लेना चाहिए कि साइमन के भारत आने के समय तक ताजमहल बना ही नहीं था !! यदि कोई पादरी आजकल अपने व्याख्यानों में 'अमरकोष' का नाम नहीं लेता तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि यह पुस्तक आजकल संसार में है ही नहीं !!! क्या माक़ूल दलील है ! कोई पूछे कि भगवान् बुद्ध ने लोगों को अपने मत का उपदेश दिया था या उन्होंने उस समय की प्रसिद्ध पुस्तकों का कोई सूचीपत्र बनाया था, जो 'रामायण' का नाम लेना उन्हें आवश्यक था ? जो बात प्रसङ्ग से आवश्यक प्रतीत होती हो, उसका वर्णन उपदेशक या लेखक किया करते हैं या केवल प्रसिद्धि के खयाल से समस्त प्रसिद्ध वस्तुओं की वंशावली सुनाया करते हैं ?

फिर बुद्ध 'रामायण' की बात क्यों चलाते ? बुद्ध को यज्ञ से विरोध था और 'रामायण' की उत्पत्ति ही यज्ञ में हुई थी। अनेक अश्वमेधों के कर्ता राम की चर्चा यदि बुद्ध ने न की हो तो आश्चर्य ही क्या ? न तो यह सम्भव था कि बुद्ध राम और रामायण का महत्त्व कम कर सकते और न यही सम्भव था कि वह उस मार्ग को स्वीकार करते। ऐसी दशा में उस ओर उपेक्षा करने में ही बुद्ध की बुद्धिमानी थी।

फिर बुद्ध ने कोई ग्रन्थ भी तो नहीं लिखा। उन्होंने तो केवल वाचिक उपदेश दिए थे। जो कुछ 'त्रिपिटक' या 'धम्मपद' आदि भगवान् बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं वे सैकड़ों वर्ष बाद उनके शिष्यों ने संग्रह किए हैं। हाँ, उनमें बुद्धोपदेशों का तत्त्व अवश्य है। इस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध ने कभी राम या रामायण का नाम ही नहीं लिया। इसके अतिरिक्त बौद्ध-जातकों में—जिनमें भगवान् बुद्ध की ही अतीत कथाओं का संग्रह है—'दशरथजातक' के नाम से एक जातक ही मौजूद है। वास्तव में तो यह कोई दलील ही नहीं है कि परवर्ती ग्रन्थकार या उपदेशक को अपने सभी पूर्ववर्ती प्रसिद्ध पुरुषों या ग्रन्थों का उल्लेख करना चाहिए।

कोई कहता है कि 'वाल्मीकीय रामायण' उत्तरकाण्ड के १०६ सर्ग में किसी भिक्षु (बौद्ध) की शिकायत एक कुत्ते ने राम से की है, अतः यह ग्रन्थ बौद्ध-धर्म के बाद का बना है। वस्तुतः यह बात किसी ऐसे विलायती दिमाग़ से पैदा हुई है

जिसने केवल 'भिक्षु' शब्द के आधार पर ही बौद्ध-धर्म की कल्पना कर डाली है। यह ठीक है कि बौद्ध-संन्यासी 'भिक्षु' कहाते हैं, परन्तु 'भिक्षु' कहने से ही कोई बौद्ध नहीं हो जाया करता। 'भिक्षु' का अर्थ भिक्षा माँगनेवाला होता है और भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करनेवाले सभी पुरुष 'भिक्षु' कहे जाते हैं। रामायण में पूर्वोक्त भिक्षु की कथा में उसी भिक्षु को कम-से-कम १५ बार ब्राह्मण कहा गया है। यदि इतने पर भी उसे कोई बौद्ध बताने की मूर्खता करे, तो उसे अपना दिमाग़ दुरुस्त कराने के लिये कुछ दिन आगरे जाकर रहना चाहिए।

इसी भिक्षु को दण्ड की व्यवस्था करते समय राम के मन्त्रियों ने कहा था कि 'ब्राह्मण होने के कारण यह अदण्ड्य है' और अन्त में उसी शिकायत करनेवाले कुत्ते के कथनानुसार उक्त भिक्षु को राम ने एक देव-मन्दिर का धर्माध्यक्ष बना दिया था। क्या अब भी कोई इसे बौद्ध कह सकता है? क्या कोई बौद्ध-भिक्षु वैदिक मत के मन्दिरों में धर्माध्यक्ष का पद पा सकता है?

सबसे मज़ेदार बात तो यह है कि प्रकृत सर्ग वाल्मीकि-कृत है ही नहीं, प्रक्षिप्त है। प्राचीन टीकाकारों ने उसकी टीका ही नहीं की है और यह लिख दिया है कि प्रक्षिप्त होने के कारण हम इन तीन सर्गों की—जिनमें प्रकृत सर्ग भी शामिल है—व्याख्या नहीं करते। मूल रामायण में भी इसे 'प्रक्षिप्त' लिखा है। इतने पर भी जो इसके बल पर रामायण को बुद्धावतार के बाद की बनी बताए, उसकी बुद्धि को क्या कहा जाय?

किसी का कहना है कि 'चैत्य' बौद्ध-मन्दिर का नाम है और प्रकृत रामायण में रावण के लिये उसकी उपमा दी गई है,—'श्मशानचैत्यप्रतिमो भूषितोपि भयंकरः' सुं० कां०, २२ सर्ग—अतः यह सिद्ध होता है कि रामायण लिखे जाने के समय बौद्ध-मन्दिर विद्यमान थे और वैदिक मतानुयायी लोग उनसे घृणा करते थे। तभी तो रावण को उसकी उपमा दी गई।

पहले तो बौद्ध-मन्दिर को 'चैत्य' कहते नहीं, जैन लोग अपने मन्दिरों को 'चैत्य' कहते हैं। बौद्धों के 'विहार' होते हैं, 'चैत्य' नहीं। दूसरे इस शब्द के अनेक अर्थों में से 'देव-मन्दिर' भी एक है। किसी धर्म या मत का सम्बन्ध इसके शब्दार्थ से नहीं है। यह और बात है कि आगे चलकर जैन-मतानुयायी सज्जनों ने इस शब्द का प्रयोग अपने मन्दिरों के लिये विशेष रूप से किया और इसी कारण अन्य संप्रदायवाले इस शब्द से संकोच करने लगे। परन्तु रामायण के समय में न तो जैन थे, न बौद्ध, अतएव उस समय इस शब्द का प्रयोग सामान्य मन्दिर के अर्थ में होता था। रावण की अशोक-वाटिका में एक 'चैत्य' प्रासाद का वर्णन मिलता है। मेघनाद जिस जगह जीवित बकरे की आहुति दिया करता था, उसका नाम 'निकुम्भिला चैत्य' था। क्या किसी बौद्ध या जन-मन्दिर में रक्त-मांस का हवन हो सकता है ? अयोध्या में अनेक 'चैत्य' होने का वर्णन रामायण में मौजूद है। भरत जब राम से मिलने चित्रकूट गए हैं, तब राम ने कुशल पूछते हुए 'चैत्यों'

का भी हाल पूछा है। उन्होंने तो यहाँ तक पूछा है कि तुम 'चैत्यों' को प्रणाम किया करते हो या नहीं? वनवास से पूर्व राज्याभिषेक के समय राम जब अपने महल से महाराज दशरथ के पास गए तब 'चैत्यों' को प्रदक्षिण करते हुए गए थे। यदि लोग उस समय 'चैत्यों' से घृणा करने लगे थे, तो उनको प्रणाम करने या प्रदक्षिणा करने की बात कैसी? इस प्रकार की बातें या तो वे लोग कहते हैं जो भारतीय साहित्य को बदनाम करने की शपथ खाकर ही लिखना आरम्भ करते हैं या फिर वे लोग कहते हैं जिन्होंने कभी रामायण को देखा या समझा ही नहीं।

रामायण में 'चैत्य' शब्द के कुछ उदाहरण देखिए—

'वनं भग्नं मया चैत्यप्रासादो न विनाशितः। १।
चैत्यप्रासादमाप्लुत्य'। ३।
'स प्रधृष्य तु दुर्धर्षश्चैत्यप्रासादमुन्नतम्'। ५।
'चैत्यपालाश्च मोहिताः'।
'चैत्यस्थो हरियूथपः' १२ इत्यादि। सुं०, कां०, ४३ सर्ग
'निकुम्भिलामभि ययौ चैत्यं रावणपालितम्' ।२६। यु०, ८५ सर्ग
'स होतुकामो दुष्टात्मा ययौ चैत्यं निकुम्भिलाम्' ।२६। यु०, ८२ सर्ग
'कश्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः' ४३। अयो०, १०० सर्ग
'चैत्यांश्चसर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि।६१। अयो०, १००

इस प्रकार की भ्रान्त धारणायएँ फैलाने में वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों का भी बहुत कुछ हाथ है। पूर्वोक्त 'श्मशान-चैत्यप्रतिमः' (सं०, २२ सर्ग) का अर्थ करते हुए 'रामा-

भिरामी' टीका में लिखा है 'चैत्यं बुद्धमन्दिरम्'। इसी प्रकार इन्होंने एक और स्थान पर भी गड़बड़ की है—

'यथा हि चोरः स तथाहि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात्'। ३४। अयो०, १०९ सर्ग

इस पद्य में 'बुद्ध' 'तथागत' 'चोर' और 'नास्तिक' शब्द एक साथ देखकर साधारण आदमी को कुछ सन्देह हो सकता है। अपना सन्देह दूर करने के लिये जब वह टीका देखता है, तो वहाँ 'बुद्धो बुद्धमतानुयायी' लिखा मिलता है। अब इसे देखकर यदि उसको यह धारणा होने लगे कि वाल्मीकीय रामायण की रचना बौद्ध-काल के बाद की है, तो आश्चर्य ही क्या? टीकाकारों ने विना आगा-पीछा देखे अन्धाधुन्ध लिखकर पाठकों को अन्धकार में ढकेल दिया है।

भरत जब राम को मनाने चित्रकूट गए थे, तब उनके संग और सब आदमियों के साथ जाबालि भी थे। जब भरत के सब प्रकार से मनाने पर भी राम किसी तरह न माने और पिता की आज्ञा तथा धर्म की दुहाई देकर सब बातें अस्वीकार करते रहे, तब जाबालि ने राम के सामने चार्वाक (नास्तिक) मत के अनुसार कुछ कहा है। अयोध्याकाण्ड के १०८ सर्ग में यही कथा है।। उसका सारांश यह है कि मनुष्य अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। कोई किसी का माता-पिता

नहीं है। माता-पिता केवल निमित्त-मात्र होते हैं। वस्तुतः उनसे सन्तान का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जन्म तो रज और वीर्य के संयोग-मात्र का नाम है। इसके सिवा (आत्मा आदि) और कुछ नहीं है। केवल चार भूतों के संयोग से प्राणी बनते और उनके वियोग से मरते हैं। न दशरथ तुम्हारे कोई थे और न तुम उनके कोई हो। श्राद्ध आदि करने में लोग व्यर्थ ही अपने अन्न का नाश करते हैं। भला जो मर चुका, वह अब क्या खायेगा? यदि दूसरे का खाया किसी दूसरे के पेट में पहुँच जाया करे, तब तो फिर परदेश में गए लोगों के नाम से घर पर श्राद्ध कर दिया जाया करे और उन परदेशियों का पेट भर जाया करे। यज्ञ, दान, दीक्षा, तपस्या आदि की बातें उन बुद्धिमान् धूर्तों ने चलाई हैं, जो दूसरों के धन पर ही मज़ा उड़ाना चाहते थे। आप (राम) यह समझिए कि 'पर' (परलोक या जन्मान्तर) कुछ चीज़ नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, उसी को मानिए, परोक्ष को छोड़िए। तात्पर्य यह कि चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। परोक्ष की बात अनुमान आदिक प्रमाणों से ही सिद्ध हो सकती है, परन्तु चार्वाक के मत में इन्हें स्वीकार ही नहीं किया है, अतः परोक्ष की बातों को अप्रमाण मानने और केवल प्रत्यक्ष के अनुसार कार्य करने का जाबालि ने उपदेश दिया है। आज राजा दशरथ तो प्रत्यक्ष हैं नहीं, फिर उनके नाम से व्यर्थ कष्ट उठाने से क्या लाभ, यही जाबालि का तात्पर्य है। जाबालि ने आरण्य काण्ड के १०८ सर्ग में जो

कुछ कहा है, उसके बहुत-से पद्य तो चार्वाकदर्शन या बृहस्पति के वचनों के रूपान्तर-मात्र हैं। संस्कृतज्ञ पाठकों के विनोदार्थ दो-चार समानार्थक पद्य हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

जाबालिः—'यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् । १५ ।

बृहस्पतिः—'मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्' ।

जाबालिः—'दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः ;
यजस्व, देहि, दीक्षस्व, तपस्तप्यस्व, संत्यज' । १६ ।

बृहस्पतिः—अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ;
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता' ।

जाबालिः—'अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात्कुरु यदुच्यते । १० ।
बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ;
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् । ११ ।
गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ;
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे' ।

बृहस्पतिः—'चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।
किण्वादिभ्यःसमेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्' ।

जाबालिः—'स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते ;
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु' । १७ ।

बृहस्पतिः—'न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ;
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः' ।

जाबालि के अन्तिम पद्य में चार्वाक-मत का निचोड़ है। केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना और परोक्ष का तिरस्कार करना—परोक्ष के साधक, अनुमान आदि प्रमाणों को धता बताना—यही चार्वाक-मत का सार है। पाठक देखेंगे कि उक्त पद्यों का भाव ही एक नहीं है, बल्कि कई का तो कहने का ढंग भी एक है।

चार्वाक का मत बौद्धमत से भिन्न है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, परन्तु बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने जाते हैं। चार्वाक के मत में चार भूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) के मिलने पर चैतन्य उसी प्रकार पैदा हो जाता है, जैसे शराब में नशा। शराब जिन चीज़ों से बनती है, उनके अलग-अलग सेवन से नशा नहीं होता, परन्तु सबके मिलने से नशा उत्पन्न हो जाता है; इसी प्रकार पृथिवी आदि को पृथक्-पृथक् देखने पर उनमें चैतन्य नहीं दीखता, परन्तु इन सबके मिलने पर शरीर में चैतन्य पैदा हो जाता है। चार्वाक आकाश को भूतों में नहीं गिनते। इनके मत में दान, तपस्या आदि व्यर्थ का ढोंग है, परन्तु बौद्धमत में त्याग और तपस्या का विशेष महत्त्व है। दान, दया का प्रत्यक्ष फल है और तपस्या ब्रह्मचर्य का अङ्ग है। बौद्धमत में ब्रह्मचर्य का कठिन पालन, ख़ासकर भिक्षुओं के लिये, अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु चार्वाक-मत में लंदन का हाइड-पार्क भी कोई बुरी चीज़ नहीं है। चार्वाक मत में चार भूतों से अलग आत्मा की कोई सत्ता नहीं, परन्तु बौद्ध लोग आत्मा को इनसे अलग मानते

हैं। बौद्धमत में देवता, परलोक (स्वर्गादि) भी माने जाते हैं और मोक्ष भी। बौद्धों के प्रसिद्ध पालीभाषा के ग्रन्थ 'धम्मपद' के चौथे (पुष्पवर्ग) प्रकरण में 'यमलोकं च इमं स देवकं' लिखा है। तेरहवें प्रकरण (लोकवर्ग) की ग्यारहवीं गाथा में लिखा है कि दुराचारी पुरुष 'देवलोक' में नहीं जाते। मूर्ख लोग दान की प्रशंसा नहीं करते। धीर पुरुष दान का अनुमोदन करते हैं और दान देने से ही वे लोग मरने के बाद परलोक में सुख पाते हैं। देखिए—

'नवे (वै) कदरिया (कदर्याः) देवलोकं व्रजन्ति।
बालाह वे न पसंसन्ति (प्रशंसन्ति) दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनैव सो होत्ति (भवति) सुखो परत्थ' (परत्र)

बौद्धमत के अनेक जातकों से जन्मान्तर की बात सिद्ध होती है, परन्तु चार्वाक-मत में तो डङ्के की चोट—'न स्वर्गो नापवर्गो वा न चात्मा पारलौकिकः'—कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध और चार्वाक-मत एक नहीं हैं। इनके दर्शन भी संस्कृत में अलग-अलग हैं और बौद्ध-दर्शनों में चार्वाक-मत का खंडन भी मिलता है। हाँ, चार्वाक-मत अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक काल में भी इसकी सत्ता का पता चलता है। आस्तिक और नास्तिक मत सनातन हैं। 'नास्तिक' शब्द से चार्वाक का ही संकेत होता है। 'स्वर्ग', 'अपवर्ग' 'आत्मा' आदि के लिये 'नास्ति' 'नास्ति' की पुकार वही करता है। बौद्धमत तो इन्हें मानता है।

इससे यह स्पष्ट है कि जाबालि ने जो कुछ राम से कहा है, वह अति प्राचीन चार्वाक-मत है, बौद्धमत नहीं। बौद्धमत का यदि उन्होंने प्रतिपादन किया होता, तो वह अपने कार्य (राम को लौटाने) में सफल ही नहीं हो सकते थे। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानकर स्वर्ग आदि को मिथ्या बताना और शरीर-मात्र को मानकर आत्मा का खण्डन करना एवं रज-वीर्य-मात्र को शरीर का कारण मानकर मनुष्य-देह को माता-पिता से असंबद्ध सिद्ध करना ही उनका लक्ष्य था। बौद्धमत का उल्लेख करने से यह काम बन ही नहीं सकता था। चार्वाक-मत ही उनका काम बना सकता था और उसी का उन्होंने जान-बूझकर उस समय थोड़ी देर के लिये आश्रय लिया था।

जाबालि की बात सुनकर राम ने भी दान, तपस्या, स्वर्ग और सत्य आदि के ऊपर ही बहुत ज़ोर दिया है। यदि जाबालि बौद्ध होते या उन्होंने बौद्धमत का प्रतिपादन किया होता, तो राम को इन बातों पर जोर देने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि बौद्ध तो इन सब बातों को मानते ही हैं। बौद्धों को सत्य, तपस्या, दान और स्वर्ग आदि से इनकार ही कब है, जो उनके सामने इन पर जोर देने की आवश्यकता होती ? इससे भी स्पष्ट है कि जाबालि ने जो कुछ कहा था, वह ऐसा मत था, जो स्वर्ग, दान आदि के प्रतिकूल था।

भरत से कुशल-प्रश्न के समय भी राम ने यही पूछा था कि तुम चार्वाक के मतानुयायी ब्राह्मणों की बातों में तो नहीं फँसते

हो ? यदि उस समय बौद्धमत का प्रचार और प्रसार हो चुका होता एवं जाबालि ने उसका प्रतिपादन तथा राम ने उसकी निन्दा की होती, तो उक्त प्रश्नों के अवसर पर यह अवश्य लिखा मिलता कि तुम बौद्धमतानुयायियों की बातों में तो नहीं फँसते हो, परन्तु वहाँ यह कुछ नहीं है; वहाँ केवल इतना है कि—

'कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे ;
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः; ३८ ।
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ;
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते'। ३९।अयो०, १००

यही लोकायत-(चार्वाक) मत पहले आया है, इसी का जाबालि ने प्रतिपादन किया है, इसी का राम ने खण्डन किया है और इसके बाद भी जब बार-बार उसी नास्तिक-मत पर जाबालि अड़े हैं, तो राम ने उन्हें आड़े हाथों लिया है। राम को क्रोध आ गया और वह बोले—

'निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्-
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं ;
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्। ३३ ;
यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ;
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात्। ३४। अयो०, सर्ग १०९

मैं पिता (दशरथ) के इस कार्य की निन्दा करता हूँ, जो उन्होंने तुम्हारे-जैसे धर्म-विमुख नास्तिक को अपनी सभा में स्थान दिया। तुमने जो मत प्रकट किया है, उसके अनुसार बुद्धि रखनेवाला (तथाहि बुद्धः) चोर के समान है। तुम्हारे मत के अनुसार आचरण करनेवाले ('तथागत') को नास्तिक समझना चाहिए। प्रजा में जो ('शक्यतम') खंडन-मंडन का सामर्थ्य रखनेवाला ('बुध') पंडित हो, उसे चाहिए कि ऐसे नास्तिकों के सामने आए अर्थात् वाद-विवाद में निपुण विद्वान् (प्रजानां शक्यतमः बुधः) को चाहिए कि नास्तिक के साथ (नास्तिकेन सह) मुक़ाबिला करे (अभिमुखः स्यात्)।

राम ने चार्वाक या नास्तिक को चोर के सदृश कहा है। जिस प्रकार चोर लोगों का धन चुराता है, उसी प्रकार नास्तिक उनका धर्म चुराता है। जिस प्रकार पहरेदार और चौकीदार धन-चोर से जनता की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि धर्म-चोर से उसकी रक्षा करे, परन्तु राम ने इस धर्म-चोर के लिये किसी दण्ड की व्यवस्था नहीं की। यदि ऐसा होता, तो सबसे पहले तो इन जाबालिजी महाराज की ही गर्दन नापी जाती, लेकिन न तो यह राज-सभा से निकाले गये, न इन्हें कोई दण्ड ही दिया गया। वस्तुतः उस दशा में तो यह संभव ही नहीं था कि जाबालि, महाराज दशरथ के मन्त्रियों में स्थान पा सकते। हाँ, इतना राम ने अवश्य कहा कि सामर्थ्यवान् विद्वानों को इनका खण्डन करना चाहिए।

प्रकृत पद्य में 'बुद्धः' और 'चोरः' को देखकर कुछ विदेशी लोग भी यह कहने लगे हैं कि रामायण बुद्धावतार के बाद बनी और जब यह बनी थी, तब बौद्धों को चोर की-सी सज़ा दी जाती थी, परन्तु पूर्वाऽपर प्रकरण देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'बुद्ध' या बौद्धों की कोई चर्चा ही नहीं है। जब जाबालि के कथन में कहीं बौद्धमत का गन्ध तक नहीं है, तो राम उसके खण्डन में बौद्धमत का नाम कैसे ले सकते थे ? 'नास्तिकेनाभि-मुखः' में भी 'नास्तिकेन' इस तृतीया को सप्तमी बताकर टीका-कारों ने अर्थ का अनर्थ किया गया है। विचारवान् पुरुषों को पूर्वाऽपर प्रकरण देखकर यथार्थ अर्थ का निर्णय करना चाहिए।

(रामायण की जन्म-कथा)

सबसे प्रथम राम के अश्वमेध-यज्ञ में रामायण का परिचय सर्व-साधारण को मिला। इसके पूर्व वाल्मीकि और उनके आश्रम में रहनेवाले इने-गिने लोग ही उससे परिचित थे। लवणासुर का वध करने जब शत्रुघ्न मथुरा की ओर गए थे, तब मार्ग में वाल्मीकि के आश्रम में ही ठहरे थे। उसी रात्रि में सीता के दो पुत्र पैदा हुए थे। बारह वर्ष बाद जब वहाँ राज्य स्थापित करके वह लौटे, तब उन्होंने उसी आश्रम में रामायण की कथा को वीणा की झनकार के साथ सुना। अपने साथियों के पूछने पर उन्होंने यह कहकर बात टाल दी कि ऋषियों के आश्रमों में ऐसी अनेक आश्चर्य-घटनाएँ हुआ ही करती हैं। उनके सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करना अच्छा नहीं। शायद

शत्रुघ्न को भी इस रहस्य के उद्घाटन की आज्ञा महर्षि ने नहीं दी थी। कुश, लव के चरित को रामायण में अन्त तक बड़ी सावधानी से छिपाया गया है। बालकाण्ड में 'राजपुत्रौ यशस्विनौ' के सिवा और कुछ नहीं है। इनके सम्बन्ध की और सब बातें—जैसे वेदज्ञ, धर्मज्ञ, गान्धर्वतत्त्वज्ञ, मेधावी, स्वरसम्पन्न आदि—बताईं, परन्तु ये किस राजा के पुत्र हैं, माता इनकी कौन है, कुल क्या है इत्यादि की बाबत एकदम मौन अवलम्बन किया गया है। वाल्मीकि मुनि किसी विशेष अवसर से पूर्व इनका परिचय प्रकट होने देना नहीं चाहते थे।

राम ने अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ बड़ी धूम-धाम से किया। देश-देश के राजा आये। सुग्रीव आदि भी आए। बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि एकत्र हुए। उन्हीं में महर्षि वाल्मीकि भी आये। इन्होंने अपनी कुटियाँ सबसे अलग एकान्त में बनाईं। ('एकान्ते ऋषिसंघातश्चकार उटजान् शुभान्') क्यों? शायद इसलिये कि उनके साथ सीताजी भी थीं। यज्ञ में उनके आने की बात प्रकट होने देना उन्हें अभीष्ट नहीं था। यह एक ऐसा विचित्र यज्ञ था जिसमें यजमान-पत्नी (सीता) के वहीं सदेह विद्यमान होते हुए भी उनकी सुवर्णमयी प्रतिमा बनाकर रक्खी गई थी। सीता की उपस्थिति के समान कुश, लव का परिचय भी प्रच्छन्न रखना अभीष्ट था।

कल से महर्षि वाल्मीकि की परीक्षा का आरम्भ होनेवाला है। पिछले बारह वर्षों में कुश, लव के पालन-पोषण और शिक्षा-

दीक्षा में जो कठिन तपस्या उन्होंने की है, उसकी सफलता या विफलता का परिणाम कल निकलनेवाला है। उनकी धर्म-नीति की व्यर्थता या सार्थकता कल ही प्रकट होनेवाली है। आज की रात्रि में महर्षि बड़े सतर्क, बड़े व्यापृत, बड़े गम्भीर और बड़े विचार-मग्न दीख रहे हैं। उन्होंने कुश, लव को बुला-कर कहा कि देखो बच्चो, कल से तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ परम प्रसन्नता-पूर्वक रामायण का गान करना होगा। ऋषियों के कुटीरों में, ब्राह्मणों की बस्तियों में, गलियों या सड़कों पर, राम के विशाल भवन के द्वार पर, काम-काजी लोगों के जमघट में, खास कर यज्ञ करानेवाले कर्मकाण्डियों के बीच में, जहाँ तुम्हें अवसर मिले, वहीं अपना काम आरम्भ कर देना। तुम्हें कहीं कुछ खाने या पीने का प्रयोजन नहीं है। ये देखो, सुन्दर कन्द, मूल, फल हम अपने साथ लेते आए हैं। इन पर्वतीय पदार्थों को खा-खाकर तुम खूब गाना। इनके खाने से तुम्हें गाने में न तो श्रान्ति प्रतीत होगी और न तुम्हारे गले से राग ही छूटने पाएगा। अर्थात् बेसुरे या बेताले कभी न होगे। यदि राम सुनना चाहें और तुम्हें बुलाएँ, तो चले जाना। ऋषियों के सामने सुनाना। एक दिन में बीस सर्ग से अधिक न गाना। (महर्षि नहीं चाहते थे कि लोगों के द्वारा प्रोत्साहित किए जाने पर अधिक परिश्रम करके बच्चे अपना गला बिगाड़ लें जिससे दूसरे दिन गाने योग्य ही न रह जायँ) अनेक प्रमाणों (विलम्बित, मध्य, द्रुत) से विभूषित—जैसे मैंने बताया है, उसी प्रकार—

गाना। इन मधुर वीणाओं और गले के रमणीय स्थान (स्थिर स्वर) को मूर्च्छित (आरोह-अवरोह) करके मधुर ध्वनि से निर्भय होकर गाना। अपने को ऋषि समझ कर राजा (राम) की अवज्ञा (अनादर) न करना, क्योंकि धर्मानुसार राजा सबका पिता होता है। उनके आगे आरम्भ से ही गाना। और कहीं से प्रारम्भ न करना। हाँ, लोभ किसी प्रकार न करना। यदि स्वयं राम भी बड़े-से-बड़ा पुरस्कार देना चाहें, तो नम्रता-पूर्वक अस्वीकार कर देना। उस समय यह कह देना कि हम फल-मूल खाकर निर्वाह करनेवाले आश्रमवासी हैं। हम यह धन लेकर क्या करेंगे ? यदि राम पूछें कि तुम किसके सन्तान हो, तो यह बता देना कि हम वाल्मीकि के शिष्य हैं।

'स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ ;
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा। ४।
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च ;
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च। ५।
रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते ;
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः। ६।
इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च ;
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम्। ७।
न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ ;
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः। ८।
यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः ;

ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् । ६ ।

दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा ;

प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा । १० ।

लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोपि धनवाञ्छया ;

किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा । ११ ।

यदि पृच्छेत्स काकुत्स्थो युवां कस्येतिदारकौ ;

वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् । १२ ।

इमास्तन्त्रीः सुमधुराः स्थानं वाऽपूर्वदर्शनम् ;

मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ । १३ ।

आदिप्रभृति गेयं स्यान्नचावज्ञाय पार्थिवम् ;

पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः । १४ । उ० ९३ सर्ग

इससे स्पष्ट है कि उस समय तक कुश, लव को भी यह नहीं बताया गया था कि उनका पिता कौन है। तभी तो यह आशङ्का थी कि कहीं वे राम के सामने कुछ धृष्टता न कर बैठें। वाल्मीकि ने जिस ढंग से उन्हें समझाना-बुझाना आरम्भ किया है, उससे पता चलता है कि आज वे उन्हें मानो किसी विजय-यात्रा पर भेज रहे हैं। जैसा उन्होंने सिखाया है ठीक वैसा ही निर्भय और प्रसन्न होकर गाने का आज वह आदेश दे रहे हैं। मानो बहुत दिनों से अपने मन में कोई विशेष लक्ष्य रखकर ही उन्होंने इन्हें बहुत कुछ सिखाया-पढ़ाया है और आज उसकी परीक्षा का समय आया है।

इस प्रकार की अनेक बातें समझाकर महर्षि चुप हो गए।

बच्चे सो गए। प्रभात हुआ। सब उठे। प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर बच्चों ने स्नान, सन्ध्या और अग्निहोत्र किया। महर्षि को अभिवादन किया। फिर अपनी-अपनी वीणा उठाई और आज्ञा लेकर चल दिए। बात-की-बात में इनके नाम की धूम मच गई। चारो ओर इन्हीं की चर्चा होने लगी। राम के कान तक भी खबर पहुँची। बच्चे बुलाए गए। तन्त्री के मधुर तारों पर सुकुमार कुमारों की कोमल उँगलियाँ थिरकने लगीं। वीणा के स्वर झनकार उठे और भगवान् वाल्मीकि की विश्वविजयिनी सरस्वती गूँजने लगी। राम का कौतूहल बढ़ा। एक सभा नियत की गई। बड़े २ ज्ञानी, विज्ञानी, महर्षि, विद्वान्, अनेक विषयों के ज्ञाता, गुणी और राजा लोग भी बुलाये गये। वहीं सबके सामने बालकों की विद्या और कौशल देखने का निश्चय हुआ। सभा जम गई। वीणापाणि, रञ्जितकण्ठ कुमारों ने किन्नर-किशोरों के समान सिंहगति से सभा में प्रवेश किया। लोगों ने बड़े ध्यान से उन नयनाभिराम बालकों को देखा। जनता की प्रथम दृष्टि कुमारों पर पड़ी और दूसरी राम पर। कुछ इशारे-बाज़ी शुरू हो गई। एक ने आँख के इशारे से कुछ कहा तो दूसरे ने भृकुटि-भङ्गी से उसका जवाब दिया। किसी ने हाथ से कुछ बताया तो किसी ने काना-फूसी से काम लिया। बहुतों ने धीरे से कहा कि ये दोनो तो राम के ही प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं। यदि जटा-वल्कलधारी न होते, तो इनमें और राम में क्या भेद था? गाना आरम्भ हुआ। विजयी बालकों ने एक ही

मूर्च्छना में जनता की हृत्तन्त्री को तरङ्गित कर देनेवाली अपनी-अपनी वीणा सम्हालो। चारो ओर सन्नाटा छा गया। सभी लोग विस्मित, चकित और स्तम्भित हो गये। सब अपने को भूल गए। आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। आदिकवि की कुशलता-पूर्ण काव्य-कला संगीत का संग पाकर सोने में जड़े हीरे के समान जगमगा उठी। नारद के निर्दिष्ट आदि सर्ग से लेकर बीस सर्ग समाप्त हो गये। लोगों ने समझा कि पलक मारते न मारते संगीत समाप्त हो गया। बालकों की वीणा चुप थी, परन्तु जनता के कौतूहल-पूर्ण कर्ण-विवर गूँज रहे थे।

तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ ;
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम्। १।
तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम् ;
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम्। २।
प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तन्त्रीलयसमन्विताम् ;
बालाभ्यां राघवः श्रुत्वा कौतूहलपरोऽभवत्। ३।
अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ;
पार्थिवाँश्च नरव्याघ्रः पण्डितान्नैगमांस्तथा। ४।........
पिबन्त इव चक्षुर्भिः पश्यन्ति स्म मुहुर्मुहुः ; १२।
ऊचुः परस्परं चेदं सर्व एव समाहिताः।
उभौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद् बिम्बमिवोद्धृतौ। १३।
जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ; १४।

प्रवृत्तमादितः पूर्वसर्गं नारददर्शितम् । १५ ।

ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद् विंशत्यगायताम् १६ । उ०, ६४ सर्ग

मुनि-कुमारों का गाना सुनकर राम परम प्रसन्न हुए। लक्ष्मण को आज्ञा दी कि अठारह हज़ार स्वर्ण-मुद्रा इन्हें दे दो और इसके अतिरिक्त जो कुछ ये चाहें वह भी दे दो। आज्ञा का पालन हुआ। गायकों ने अपने बालभावसुलभ विस्मय से उस धनराशि को देखते हुए कहा कि हमारे यह किस काम का है? हम वनवासी लोग तो कन्द-मूल से अपना जीवन बिताते हैं। सुवर्ण लेकर हम क्या करेंगे? बच्चों की बात से सबको विस्मय हुआ। राम भी चकित हुए। उन्होंने कुमारों से पूछा कि यह काव्य कितना बड़ा है? इसके निर्माता मुनि कौन हैं? कहाँ हैं? इत्यादि। बालकों ने बताया कि भगवान् वाल्मीकि इसके रचयिता हैं। वह इस यज्ञ में आए हुए हैं। उन्होंने चौबीस हज़ार श्लोकों में सौ उपाख्यान लिखे हैं। आदि से लेकर पाँच सौ सर्गों में छः काण्ड समाप्त हुए हैं। इसके बाद उत्तरकाण्ड है। आपकी राज्य-प्रतिष्ठा और उसके बाद का चरित्र भी सब लिखा है। वही हमारे गुरु हैं। यदि आप चाहें, तो अवकाश के समय इसे सुन लिया करें। राम ने स्वीकार कर लिया। बालक चले गए। महर्षि वाल्मीकि का चिरवाञ्छित मनोरथ सफल हुआ। उनकी 'धर्मनीति' ने आज 'राजनीति' के ऊपर प्रच्छन्नविजय प्राप्त की। प्रतिदिन यज्ञ-क्रिया से अवकाश पाकर राम ने मुनियों, राजाओं और वानरों के साथ

रामायण सुनना आरम्भ किया और बहुत दिनों तक सुनते रहे।

रामो बहून्यहान्येवं तद् गीतं परमं शुभम्;

शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः'। १। उत्तर०, ६५ सर्ग

जिस प्रकार किसी पहाड़ी नदी पर जमी हुई बर्फ़ की पतली तह के नीचे अविच्छिन्न जल-धारा क़ल्लोलें किया करती है, उसी तरह इस प्रकरण में ध्यान-पूर्वक देखिए तो प्रतीत होगा कि यहाँ अद्भुत रस की पतली चादर की ओट में करुण रस का स्रोत उमड़ रहा है। बालकों की वीणा और वाल्मीकि के अलौकिक काव्य ने लोगों को विस्मय के सागर में गोते दे-देकर अद्भुत रस की सृष्टि की थी। राम और गायकों के आकृति-साम्य से पहले ही सन्देह का अंकुर उत्पन्न हो गया था। अपने पिता का परिचय तो इन बच्चों को भी नहीं था। ये केवल अपनी माता और गुरु को जानते थे। जब अनेक दिनों तक रामायण सुनने पर यह विदित हुआ कि ये दोनों सीता के पुत्र हैं, तब कथा सुननेवालों का समस्त विस्मय करुणा के रूप में परिणत हो गया। हा, चक्रवर्ती महाराज राम की प्राणाधिक प्रियतमा महारानी सीता के सुकुमार राजकुमारों की यह दशा!! देवताओं के उपकारक राक्षसों के संहारक, समस्त पृथिवी के प्रतिपालक महाराजाधिराज राम के औरस पुत्रों का यह वेष! ये वनवासी होकर कन्द-मूल पर जीवन बिता रहे हैं। इन्हें अन्न तक नसीब नहीं। राजकुमार होते हुए भी इन्हें रत्न-राशि के महत्त्व का ज्ञान तक नहीं। ये सुवर्ण-

राशि को जङ्गली जीव की तरह ठुकरा रहे हैं। फिर बेचारी सीता की क्या दशा होगी? त्रैलोक्य ललाम राम की पटरानी और महाराज जनक की दुलारी राजकुमारी आज अनाथ की तरह जङ्गलों में भटकती फिरती है। इन बच्चों को देखकर उसके हृदय की क्या दशा होती होगी? आज सीता को अन्न-वस्त्र भी सुलभ नहीं। उसे जङ्गल की मिट्टी खोद-खोदकर अपने बच्चों को जिलाने के लिये कन्द-मूल निकालने पड़ते हैं। यदि दया-वश महर्षि वाल्मीकि ने आश्रय न दिया होता, तो इन सबको क्या गति होती? सीता ने राम के भरोसे राक्षसों की घोर यम-यातनाएँ सही थीं, परन्तु आज तो उनकी प्रजा ने ही उनके सिर पर यह विपत्तियों का पहाड़ ढाया है। राम ने प्रजा के सन्तोष के लिये ही अपना जीवन शोकमय बना डाला है। प्रजा के सन्तोष के लिये ही अपना सर्व-नाश कर लिया है। क्या आप समझते हैं कि उस समय यज्ञ में उपस्थित जनता के मन में ये विचार न आए होंगे? जो राजा अपनी प्रजा के झूठे अपवाद का परिमार्जन करने के लिये अपने जीवन को यहाँ तक कष्टमय बना डाले, उसके दुःख से प्रजा कितनी दुःखी हुई होगी, इसका अन्दाज़ आप स्वयं लगा लीजिए। लोकापवाद का मूल कारण चाहें जो कोई व्यक्ति रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस यज्ञ-वाट में उपस्थित सभी श्रोताओं ने उसके नाम पर हज़ार-हज़ार बार थूका होगा। राम को तो उनकी विमाता ने वनवास दिया था, वह भी यौवन काल में,

और राम के वियोग में उनके पिता ने अपने प्राण छोड़ दिए थे, परन्तु इन भोले-भाले बच्चों को तो उनके पिता (राम) ने ही उनके जन्म से भी पहले वनवास दे डाला ! आप समझते हैं कि इन बातों का स्मरण करके राम का भावुक हृदय किस प्रकार शतधा-सहस्रधा विदीर्ण हो रहा होगा ? कुश-लव का परिचय मिलते ही लोगों के हृदयों में करुणा का सागर उमड़ने लगा। उनका करुणाविद्रुत मानस नेत्रों के द्वारा फूट-फूटकर बहने लगा। लोगों की अश्रु-धारा रोके न रुकती थी। राम स्वयं अपने बच्चों को न पहचानें और उन पर दया दिखाते हुए पुरस्कार देने की व्यवस्था करें, अब इस का स्मरण करके उनके हृदय की क्या दशा हुई होगी ? ज़रा सोचिए तो सही। यही तो कारण था जिससे महर्षि वाल्मीकि ने इन बच्चों का विशेष परिचय किसी को अब तक कानों-कान न होने दिया। यदि सब लोग पहले ही इन बच्चों से परिचित होते तो आज न तो यह करुण-रस का समुद्र उमड़ता दीखता और न लोग इन बालकों के इतने पक्षपाती ही हुए होते। विस्मय से विश्वास उत्पन्न होता है और करुणा से मनुष्य के मानसिक मल (क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर आदि) धुल जाया करते हैं। इस घटना से वे लोग भी मन-ही-मन लज्जा और अनुताप का अनुभव कर रहे होंगे जिनका हाथ उस लोकापवाद में रहा होगा।

शत्रुघ्न अवश्य ही सीता की सन्तानों से परिचित थे, परन्तु सीता के समाचार की सूचना देकर राम के मानसिक फोड़े को

छेड़ने की हिम्मत किसी भाई में न थी। राम को विमनायमान करने का साहस कोई न कर सकता था। सीता-परित्याग के समय का राम का उग्रतामय विषण्णवदन अभी उन्हें भूला न था। यह किसी को भी आशा नहीं थी कि राम फिर से सीता को स्वीकार करेंगे। राम अपनी पिछली प्रतिज्ञा से पीछे हटेंगे यह विश्वास ही किसी को नहीं था। यह सभी देखते थे कि सीता के विना राम प्राण-हीन कलेवर के समान दिन-रात उदासीन रहते हैं। यह भी सब जानते थे कि राम के विना सीता जल-हीन मीन के समान विकल रहती हैं। उन्होंने तो वन में लक्ष्मण से साफ़ ही कह दिया था कि यदि मुझे गर्भ न होता—यदि मुझे राज-वंश के क्षय होने की आशङ्का न होती—तो मैं इसी समय गङ्गा की धारा में अपने समस्त दुःखों का अन्त कर देती। अपवाद-भीरु राम ने तो सीता की चर्चा करना और सुनना तक बन्द कर दिया था। ऐसी दशा में सीता और राम के समागम की कल्पना भी कोई कैसे कर सकता था?

महर्षि वाल्मीकि ने यही कठिन कार्य अपने हाथ में लिया था। इसी के लिये वह बारह वर्ष से बराबर कठिन तपस्या कर रहे थे। वाल्मीकीय रामायण की उत्पत्ति में चाहे नारद का उपदेश और ब्रह्मा का वरदान भी भले ही कारण रहा हो, परन्तु नारद से उनका ऐसे प्रश्न करना जिनसे मजबूरन राम-चरित का ही नाम लेना पड़े और ख़ास कर बच्चों को मनोमोहिनी वीणा पर उसका सविशेष अभ्यास कराना फिर बच्चों

का परिचय गुप्त रखना, पूर्वोक्त यज्ञ में उनका उस प्रकार उपदेश देकर प्रयोग कराना और ख़ासकर उस यज्ञ में सीता को साथ लेकर आना किसी नीति से ख़ाली नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि की नीति को हम 'राजनीति' का नाम नहीं दे सकते। राजनीति के मूल में किसी प्रच्छन्न स्वार्थ की सत्ता अवश्यंभावी है, परन्तु महर्षि की नीति में केवल परोपकार का प्राबल्य था। राम का वंश राज्याधिकार से वञ्चित न रह जाय, यही तो उनका प्रधान लक्ष्य था। राम सवत्सा सीता को स्वीकार करें, यही तो पर-दुःख-कातर महर्षि का उद्देश्य था। हम इसे 'धर्म-नीति' कह सकते हैं, 'राजनीति' नहीं।

सब से बड़ा भय तो यह था कि सीता के समान उनकी सन्तान पर भी उच्छृङ्खल जनता कहीं कोई अपवाद न लगा बैठे। तब तो महाभयानक विपत्ति आ पड़ेगी। राम को सीता के छोड़ने में जब ज़रा भी हिचकिचाहट न हुई तो बच्चों को छोड़ते उन्हें क्या देर लगेगी? इसी सम्भावित विपत्ति-सागर से पार उतरने के लिये महर्षि ने बारह वर्ष से कठिन तपस्या प्रारम्भ की थी। आज उसी का अविकल फल आपको देखना है। महर्षि ने उस यज्ञीय सभा के सभी श्रोताओं के हृदयों को विस्मय और करुणा के अविरत प्रवाह में डुबो-डुबोके एकदम निर्मल करा डाला है। कई सप्ताह तक वीणा और वाणी की त्रिवेणी में स्नान करा-कराके सभी श्रोताओं को निष्कल्मष बना लिया है। ब्रह्मा के वरदान और अपनी योगज दिव्य

दृष्टि से राम के सभी गुप्त और प्रकट, अतीत और अनागत रहस्यों का वर्णन करके उन्होंने अपनी वाणी की विश्वसनीयता की धाक जनता में पूरी तरह जमा ली है। आज उन्होंने अपने करुण-रस के ताव से इन लोहे के टुकड़ों को इतना द्रुत कर लिया है कि अब इनके परस्पर जुड़ने में देर न लगेगी। सीता और उनके बच्चों के साथ सबको सहानुभूति भी है और वाल्मीकि की बात पर विश्वास भी है। राम को लोकापवाद का ही डर था, परन्तु आज वाल्मीकि की कठिन तपस्या ने उसी लोक को लोहे से मोम बना डाला है। लोक स्वयं राम के अनुकूल होने में अपना सौभाग्य समझता है। अब राम को किसका डर हो सकता है? हाँ, लोक के विरुद्ध जाने में लोक-लाज का भय भले हो हो। इस प्रकार विचार करने से विदित होगा कि महर्षि ने उस समय परिस्थिति पर पूरा अधिकार कर लिया था। वह यह चाहते अवश्य थे कि सीता और राम का समागम हो, परन्तु स्वयं अपने मुँह से यह कहकर अपनी बात हलकी करना नहीं चाहते थे। वह स्वयं प्रार्थना करने को तयार नहीं थे, बल्कि दूसरों के मुँह से वही बात प्रार्थना के रूप में सुनना चाहते थे। इसीलिये तो उन्होंने यह कठिन तपस्या की थी। आज उनका मनोरथ पूर्ण हुआ है। वह एकान्त में ही बैठे रहे। उस सभा में गए तक नहीं। जब कथा-प्रसंग से यह विदित हुआ कि ये दोनो बालक सीता की सन्तान हैं, तब राम ने स्वयं अपनी इच्छा से, विना किसी के कहे-सुने

ही, दूतों को बुलाकर कहा कि तुम भगवान् वाल्मीकि के पास जाओ। यदि वह आज्ञा दें और सीता इसके लिये तयार हों, तो कल प्रातःकाल सभा के सामने फिर उनकी वैसी ही दिव्य-परीक्षा हो जाय जैसी 'लङ्का-विजय' के बाद हुई थी। उनको इस शुद्धि से मैं अपने को ही शुद्ध हुआ समझूँगा। देखा आपने? 'जादू वह जो सर पे चढ़के बोले'। इस प्रकार भगवान् वाल्मीकि की धर्मनीति ने यहाँ राजनीति पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

'तस्मिन् गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ ;
तस्याः परिषदा मध्ये रामो वचनमब्रवीत्। २।
दूतान् शुद्धसमाचारानाहूयात्ममनीषया ;
मद्वचो ब्रूत गच्छध्वमितो भगवतान्तिके। ३।
यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा ;
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम्। ४।
छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम् ;
प्रत्ययं दातुकामायास्ततः शंसत मे लघु। ५।
श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च'। ६। उत्तर, ६५ सर्ग

महर्षि वाल्मीकि तो इसके लिये तयार हो बैठे थे। उन्होंने तुरन्त आज्ञा दे दी कि अच्छी बात है। सीता वही करेगी, जो राम चाहते हैं। स्त्री के लिये तो उसका पति ही सब कुछ है। वही उसका देवता है। दूतों ने जब राम को महर्षि का सन्देश सुनाया, तब वह बहुत प्रसन्न हुए। ऋषियों और राजाओं को

'सीता-शपथ' के समय आने को आमन्त्रित किया गया। साथ ही यह घोषणा कर दी कि और जो भी आना चाहे, आ सकता है।

प्रातःकाल हुआ। पूरे जमाव के साथ सभा लगी। आगे-आगे भगवान् वाल्मीकि और उनके पीछे-पीछे संन्यासिनी के वेष में गेरुआ वस्त्र पहने हुए, मन में केवल राम का ध्यान करती हुई, हाथ जोड़े हुए, नीची दृष्टि और नीचा सिर किए हुए सीता देवी आईं। इनकी आँखों में आँसू भरे थे। इन आँसुओं का क्या भाव था, ये आनन्दाश्रु थे या शोकाश्रु, यह पहचानने के लिये आप अपनी बुद्धि का पूरा जोर लगाइए। लोगों ने महर्षि के पीछे सीता को ऐसे देखा, मानो ब्रह्माजी के पीछे साक्षात् भगवती वेद-विद्या आ रही हो। बीच सभा में पहुँचकर महर्षि बोले—

'इयं दाशरथे, सीता सुव्रता धर्मचारिणी।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः। १५।
लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत ;
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि। १६।
इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ तु यमजातकौ ;
सुतौ तवैव दुर्धर्षं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते। १७।
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन ;
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ। १८।
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ;
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं मैथिली यदि। १९।
तस्मादियं नरवरात्मजशुद्धभावा

दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रदिष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृतचेतसा या—
त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा । २३ । उत्तर० ६६ सर्ग

इस प्रकरण में सीता की शुद्धि से पूर्व महर्षि ने शपथ-पूर्वक अपनी ही शुद्धि कर डाली। इन पद्यों में उन्होंने अपना करुणा-पूर्ण हृदय खोलकर लोगों के सामने रख दिया है। अनेक विद्याओं के पारगामी आचार्य महायोगी महर्षि वाल्मीकि राम के सामने किस प्रकार शपथ कर रहे हैं, यह दशा देखते ही बनती है। वह कहते हैं—हे राम, यह सीता पतिव्रता हैं, धर्माचरणों से युक्त हैं, तुमने लोकापवाद के भय से इन्हें छोड़ रक्खा है। आज यह 'दिव्य' परीक्षा के द्वारा तुम्हें अपने सत्य का परिचय देंगी। तुम इन्हें आज्ञा दो। पतिव्रता स्त्री के लिये प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान में पति की आज्ञा लेना आवश्यक है। ये दोनो साथ पैदा हुए (यमजात) कुश, लव—जो सीता के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं—तुम्हारे ही पुत्र हैं। मैं यह सत्य कह रहा हूँ। प्रचेता से दसवीं पीढ़ी में मेरा जन्म है। आज तक इस वंश में कोई झूठ बोलनेवाला पैदा नहीं हुआ है। मुझे स्मरण नहीं कि मैंने आज तक कभी झूठ बोला है। मैं यह निश्चय-पूर्वक सत्य-सत्य कहता हूँ कि ये दोनो तुम्हारे ही पुत्र हैं। मैंने हजारों वर्ष तपस्या में बिताए हैं। मैं अपनी समस्त तपस्या के फल से वञ्चित हो जाऊँ, यदि सीता में कुछ भी दोष हो। हे राजन्, सीता बिलकुल शुद्ध पवित्र हैं। मैंने

अपनी योग-जन्य दिव्य दृष्टि से इनकी परीक्षा कर ली है और आज अपनी शपथ की सत्यता प्रमाणित करने के लिये दिव्य शक्ति भी मैंने इन्हें दी है। मैं जानता हूँ कि सीता पर तुम्हारा अत्यन्त प्रेम है। तुम इन्हें शुद्ध भी समझते हो, परन्तु केवल लोकापवाद के भय से तुमने इन्हें छोड़ रक्खा है।

महर्षि की भाव-भरी गम्भीर, किन्तु मर्मभेदिनी उक्त बातें सुन-कर राम का भी हृदय दहल उठा। वह उठे, एक दृष्टि सीता पर डाली, फिर हाथ जोड़कर महर्षि से बोले कि भगवन्, जो कुछ आपने कहा वह बिलकुल यथार्थ है। आपके इन पवित्र वचनों पर मेरा पूर्ण विश्वास है। इसके अतिरिक्त एक बार पहले भी देवताओं के सामने सीता की परीक्षा और शपथ हो चुकी है। उसके बाद ही इन्हें स्वीकार किया था। मैंने केवल लोकापवाद के भय से इनका परित्याग किया है। मुझे इनमें पाप का सन्देह तक नहीं है। भगवान् (आप) मुझे क्षमा करें! मुझे सीता के सम्बन्ध में पाप की आशङ्का नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि ये दोनों (कुश, लव) मेरे ही पुत्र हैं। मैं केवल यही चाहता हूँ कि लोगों के सामने इस समय शुद्ध होने पर सीता से प्रेम करूँ।

'वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ;
प्राञ्जलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम्। १।
एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित् ;
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः। २।
प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसन्निधौ ;

शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता । ३ ।
लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली ;
सेयं लोकभयाद् ब्रह्मन पापेत्यभिजानता ।
परित्यक्ता मया सीता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति । ४ ।
जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे । ५ । उत्तर० ९७ सर्ग

आप इस प्रकरण पर ध्यान-पूर्वक विवेचनापूर्ण दृष्टि डालिए। वाल्मीकि के क्रिया-कलाप और उनके प्रत्येक शब्द को परखिए । उनकी नीति और उसका लक्ष्य क्या है, इसे सोचिए और फिर समझिए कि उन्हें अब तक अपने काम में कितनी सफलता मिली है ।

यह बात तो राम ने अभी सबके सामने स्वीकार कर ली कि कुश, लव मेरे ही पुत्र हैं । सीता ने भी ये शब्द स्वयं अपने कानों से सुन लिए हैं । सीता के हृदय का सबसे बड़ा शल्य तो निकल ही गया । खासकर रानियों को अपने पुत्र की राज्य-प्राप्ति की चिन्ता अपने प्राणों से भी अधिक हुआ करती है। अनेक तो इसके लिये अपने प्राण तक खो देती हैं । राम का वनवास भी तो इसी लिये हुआ था । कैकेयी स्वयं तो राज-सिंहासन पर बैठना नहीं चाहती थी। भरत के लिये ही उसने यह अमिट अपयश का पहाड़ अपने सिर व्यर्थ लादा था। आज यह तो निश्चय हो चुका कि रामराज्य के उत्तराधिकारी ये ही बच्चे होंगे । यह और बात है कि आगे चलकर राम ने

अनेक राज्य स्थापित कर दिए, परन्तु पहले यह कौन जानता था ? फिर यदि इन्हें राम ने अपना पुत्र स्वीकार न किया होता, तो इन्हें किसी प्रकार का भी राज्य कैसे मिलता ? इस विषय में यहाँ सीता का मनोरथ और महर्षि की धर्मनीति सर्वांश में सफल हुई।

अब रही सीता की बात । उनका परित्याग करते समय राम ने जो उग्रता, कठोरता, रूक्षता और हृदय-हीनता दिखाई थी, उसे सोचते हुए आज तक किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि उनके आगे सीता का नाम भी ले सके । त्याग के समय राम ने सीता की सूरत देखना तक उचित न समझा। उन्हें यह बताया भी नहीं कि तुम्हारे साथ यह घोर अन्याय किया जा रहा है। उन्हें अपने पक्ष में एक शब्द भी बोलने का अवसर नहीं दिया गया। उन्हें इतना भी मौक़ा न दिया कि वह अपनी इस अनन्त यात्रा के लिये कुछ आवश्यक वस्तुएँ तो साथ ले लें। अपनी सास, अपने परिजन, अपने परिग्रह और अपने निवास-स्थान को एक बार नज़र भरके देख तो लें। और कुछ न सही, जिन राम के नाम पर उनका समस्त जीवन ही कण्टका-कीर्ण बना था, जो उनके सर्वस्व और हृदयाधिदेव थे, जिनके लिये उन्होंने, वन में जाकर लक्ष्मण के मुँह से अपने परित्याग की बात सुनकर भी, मङ्गल-कामना ही की थी, उन्हीं राम के अन्तिम दर्शन करके एक बार उनकी चरण-धूलि तो ले सकें। वह तो तीसरे दिन घर लौट आने के विचार से गई थीं। यह राम का कितना अन्याय, कितनी कठोरता और कितनी उग्रता थी ?

इसका स्मरण करके सभी लोग काँप जाते थे। किसी को यह आशा ही नहीं थी कि राम सीता के साथ न्याय-पूर्ण व्यवहार करेंगे, परन्तु महर्षि की तपस्या ने आज पासा पलट दिया है। आज राम स्वयं अपने मुँह से सबके सामने सीता को निष्कल्मष बता रहे हैं और उन्हें स्वीकार करने को तयार हैं। सीता को इससे अधिक और क्या चाहिए ? उन्हें अपने जीवन-मरण या सुख-दुख की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी अपने अपयश की। वह सुख-पूर्वक अपने प्राण त्याग सकती हैं, परन्तु निर्मूल कलङ्क उनके हृदय का विकट शल्य है। आज इस भरी सभा में उसका उन्मूलन हो चुका। राम ने उन्हें निर्दोष स्वीकार कर लिया। उनके त्याग का कारण उन्होंने 'लोकापवाद' स्वीकार कर लिया। 'अपवाद' का अर्थ है निराधार दोष। यदि वास्तविक दोष कोई बताए तो वह निन्दा कहाती है और अविद्यमान दोष का कथन 'अपवाद' कहाता है। आज यह सबके सामने राम ने मान लिया कि वस्तुतः सीता में कोई दोष नहीं है। यह महर्षि वाल्मीकि की दूसरी विजय हुई।

अब रही सिर्फ़ सीता-परिग्रह की बात। इसके लिये राम चाहते हैं कि सीता फिर से 'दिव्य' करें। साथ ही यह भी कहते हैं कि एक बार यह परीक्षा देवताओं के सामने रावण-वध के बाद हो चुकी है और सीता की निर्दोषता सिद्ध हो जाने पर ही उन्हें स्वीकार किया गया है। फिर आज राम सीता की दुबारा शुद्धि-परीक्षा क्यों चाहते हैं ? सिर्फ़ उन लोगों को दिखाने के लिये

जो पूर्व-परीक्षा के समय उपस्थित नहीं थे। हम पूछते हैं, जिन लोगों ने पूर्व-परीक्षा नहीं देखी थी, उन्होंने यह भी तो नहीं देखा था कि सीता का हरण रावण ने किया था। यदि कहा जाय कि उसे उन्होंने सुना था, तब क्या पूर्व-परीक्षा की बात उन्होंने नहीं सुनी थी? यदि कोई कहे कि जनता इस अलौकिक बात पर विश्वास नहीं कर सकती थी कि सीता जलती हुई प्रचण्ड अग्नि में घुसकर भी अछूती निकल आई और अग्निदेव ने स्वयं आकर उन्हें राम को सौंपा। साधारण जनता इस अद्भुत बात के समझने में असमर्थ थी। अच्छा फिर यह बताइए कि अलौकिक बातों के समझने में असमर्थ यही जनता इस बात पर कैसे विश्वास करती थी कि सीता को पकड़कर कोई इतने लम्बे समुद्र को आकाश-मार्ग से पार कर सकता है? उसने यह कैसे विश्वास किया कि कोई कूदकर समुद्र पार करके लङ्का से सीता की ख़बर ला सकता है? उसने यह कैसे समझा कि नर-वानर मिलकर समुद्र पर पुल बाँध सकते हैं और त्रैलोक्य-विजयी भयानक राक्षसों का वध भी कर सकते हैं? लङ्का से लौटी सीता उसी जनता के सामने मौजूद थी। सुग्रीव, विभीषण, हनूमान् आदिक विकट, भयानक, और अद्भुत जीव राम की परिचर्या करते हुए उसके सामने मौजूद थे। इन्हें देखकर राम की अलौकिक शक्ति और दिव्य प्रभाव का पता लगाना क्या कठिन था? फिर राम भी तो इसे 'अपवाद' ही बताते हैं, वास्तविक दोष नहीं कहते। इसके अतिरिक्त यह 'अपवाद' लगाया किसने?

रामायण में तो किसी आदमी का उल्लेख है नहीं। इसीसे परवर्ती कवियों में से किसी ने उसे 'रजक' बताया है, किसी ने शूद्र कहा है। इन जातियों में तो आज भी करावे की प्रथा मौजूद है। कोई विधवा या सधवा स्त्री एक पुरुष को छोड़कर दूसरे के पास बैठ जाती है और उनकी जाति उसे बुरा नहीं समझती। जो मांस खाता है उसे उसके खानेवाले से घृणा कैसी ? शराब पीनेवाला भांग पीनेवाले की निन्दा कैसे कर सकता है ? फिर भांग भी कहीं हो ! मान लीजिए कि कोई आदमी देवता के प्रसाद का पञ्चामृत पी रहा हो और दूसरा उसे भांग समझ कर काना-फूसी करना शुरू कर दे, तब क्या पञ्चामृत पीने-वाले को अपना बरतन पृथ्वी पर पटक कर फाड़ देना चाहिये ? उसे यह भी तो समझना चाहिए कि इसमें मैं देवता का अपमान कर रहा हूँ। सीता की अग्नि-परीक्षा के समय स्वयं अग्नि ने राम से कहा था कि सीता निर्दोष हैं, मैं तुम्हें आज्ञा करता हूँ कि इनसे पूर्व की भाँति अब कोई कटु-वाक्य न कहना। 'न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते'। राम ने इसे स्वीकार भी किया था। और सब देवताओं ने भी ऐसा ही कहा था। राम ने भी कहा था कि जैसे सूर्य अपनी प्रभा नहीं छोड़ सकता और यशस्वी पुरुष अपनी कीर्ति नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार मैं सीता को नहीं छोड़ सकता। फिर राम उन पिछली बातों को एकदम कैसे भूल गए ? राम ने वस्तुतः सीता का परित्याग करने में बड़ी जल्दबाजी की। उस

समय सीता के सामने पड़ने तक की हिम्मत उनमें नहीं थी। किसी मन्त्री से भी कोई सलाह नहीं ली। भाइयों में से भी किसी को बोलने न दिया। पहले से ही सबका मुँह बन्दकर दिया था। वास्तव में राम के प्रारब्ध में ही यावज्जन्म कष्ट उठाना और दुःख भोगना लिखा था। मनुष्य देह पाकर बड़े-बड़े देवता भी दुःख से दूर नहीं रह सकते। सीता को छोड़कर लौटते समय दुखी लक्ष्मण को समझाते हुए सुमन्त्र ने कहा था कि तुम लोगों का जन्म होने पर महाराज दशरथ ने महर्षि दुर्वासा से तुम सब का भविष्य पूछा था। राम के सम्बन्ध में उन्होंने यह कहा था कि यह 'दुःख प्राय' और 'विसौख्यवान्' (सौख्यहीन) होंगे। सुमन्त्र ने यह भी बता दिया था कि राम तुम्हें भी छोड़ देंगे, सीता के दो पुत्र होंगे और राम सब भाइयों के लड़कों को अलग-अलग राज्यों का अधिकारी बनाएँगे इत्यादि।

ये सब तो भविष्य-वक्ता ज्योतिषियों या दैवदर्शी महर्षियों को बातें हैं। इन्हें छोड़िए। हमें इनसे कुछ मतलब नहीं। हमें तो यह देखना है कि सीता की शुद्धि-परीक्षा एक बार हो चुकी थी। देवता साक्षी थे। राम भी स्वीकार कर चुके थे। अपवाद की बात एकदम दुर्बल थी। आज महर्षि वाल्मीकि भी सीता की सच्चरित्रता को कठिन शपथें खा-खाकर सिद्ध कर रहे थे। राम स्वयं सीता को निर्दोष और उनके पुत्रों को अपना सन्तान मान रहे थे, परन्तु फिर भी सीता की दुबारा परीक्षा पर अड़े थे। 'शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे' पर डटे थे। क्या

सीता का जन्म बार-बार इस प्रकार का तमाशा दिखाने के लिये ही हुआ था ? यदि इसी प्रकार की तुच्छ बातों पर उनकी रोज-रोज परीक्षा होने लगी, तब तो फिर उनका जीवन इसी के लिये हुआ। यदि उन्हें इस प्रकार के जीवन से घृणा हुई हो, तो क्या आश्चर्य ? आज उनके पुत्र राज्य के अधिकारी हैं। देव-तुल्य महर्षि वाल्मीकि उनकी पवित्रता के साक्षी हैं। उनके हृदयाधिदेव राम उनके सामने हैं। अपवाद लगानेवाली प्रजा के भी बहुत लोग बैठे हैं। सांसारिक सुखों की अब उन्हें कुछ कामना नहीं है। इस दशा में महर्षि के दिव्य मन्त्रों से अभिमन्त्रित होकर सीतादेवी राम की आज्ञानुसार अपनी दिव्य परीक्षा के लिये सभा में उठीं। उन्होंने निम्न-लिखित वाक्य कहे—

'यथाऽहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति। १४।
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये;
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति। १५।
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं नच;
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति। १६। उत्तर०, ९७

यदि मैं राम के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को मन में भी न लाती हूँ तो मुझे पृथ्वी देवी अपने अन्तर्गत कर ले। यदि मन, कर्म, वचन से मैंने राम की ही पूजा की है तो पृथ्वी देवी मुझे अपने में समा ले। यदि मेरे कहे हुए उक्त वचन सत्य हैं तो भगवती पृथ्वी मुझे उठा ले। महर्षि वाल्मीकि के दिव्य शक्ति-सम्पन्न मन्त्रों से

अभिमन्त्रित सीता के उक्त वचन कहने पर जो अद्भुत घटना हुई उसे देखकर सभी भौचक्के-से रह गए। पृथ्वी फटी और उसमें से दिव्य सिंहासन पर आसीन पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी निकलीं। उन्होंने प्रेम-पूर्वक सीता को अपनी गोद में बिठाया और सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गईं। पृथ्वी से उत्पन्न हुई सीतादेवी पृथ्वी में ही विलीन हो गईं। देवताओं ने रसातल में प्रवेशकरते समय उनके ऊपर दिव्य पुष्पों की वृष्टि की और करुण-रस-पूर्ण इस दुःखान्त काव्य का प्रधान खेल समाप्त हो गया। सीता राम के मुँह की ओर देखती हुई, उनकी आँखों से आँखें मिलाये हुए, विलीन हो गईं और राम ताकते रह गए। समस्त जनता स्तब्ध थी।

'तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम्;
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्। १७।
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्;
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत्। १९।
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्;
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्। २०।
तन्मुहूर्तमिवात्यर्थं समं संमोहितं जगत्। २६ (उत्तर०, ६७

कुछ लोग सीता-परित्याग के कारण बहुत दुखी होते हैं, कुछ बहुत विक्षुब्ध हो उठते हैं और कई तो कुछ सख्त-सुस्त भी कह बैठते हैं। बात है भी बड़े दुःख की। भावुक लोगों का, इस रोमाञ्चकारी घटना से, विचलित हो उठना कोई आश्चर्य नहीं। कालिदास ने भी रघुवंश में इस अवसर पर राम के ऊपर कुछ

छींटे कसे हैं। औरों ने भी बहुत कुछ कहा है, परन्तु इन सब महानुभावों का यह सोचना चाहिए कि सीता के परित्याग से उन्हें जितना दुःख हो रहा है, राम को उनमें से किसी की भी अपेक्षा कम दुःख नहीं हुआ था। शायद इन सबका दुःख मिलकर भी राम के दुःख की समता न कर सके। राम को सीता से जितना प्रेम था और उनके वियोग में उन्होंने जितना घोर कष्ट सहन किया था, क्या उसकी तुलना कोई है? फिर सीता के वकीलों को जरा सीता की ओर भी देखना चाहिए। क्या राम के वियोग का दुःख उनसे अधिक किसी को हो सकता है? क्या राम के विरुद्ध उन्होंने इस अवसर पर एक भी शब्द कहा है? जब वनवास के समय राम उन्हें अपने साथ ले जाने में आना-कानी करने लगे थे और बड़ा जोर देके भरत के अधीन रहने को बाध्य कर रहे थे तब उन्होंने प्रणय-कोप से राम की बड़े-कड़े शब्दों में भर्त्सना की थी।

रावण-वध के बाद जब राम ने सीता से उग्र और क्रूर व्यवहार किया था, तब भी उन्होंने शोकावेग में कुछ कटु व्यङ्ग्य किए थे, परन्तु इस अवसर पर तो वह एकदम मोम बन गई थीं। उन्होंने राम की मङ्गल-कामना और श्वश्रुओं के प्रणाम आदि के सिवा लक्ष्मण से और कुछ सन्देश न कहा। हाँ, राम को धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करने की सलाह देते हुए यह अवश्य कहा कि देखो, प्रजा के ऊपर कोई अन्याय न होने पाए। वनवास के समय जिन सीता के दर्शन राम की प्रणयिनी के

रूप में होते हैं और रावण-वध के बाद जो अत्यन्त मनस्विनी सह-चरी दीख पड़ती हैं, वही इस समय समस्त प्रजा की जननी के रूप में दर्शन देती हैं। उन्हें अपने ऊपर लाञ्छन लगानेवाली प्रजा पर आज क्रोध नहीं, बल्कि इस बात की चिन्ता है कि उनके वियोग में व्याकुल राम की उपेक्षा या असावधानी से कहीं प्रजा को कोई कष्ट न पहुँच जाय। उन्हें अपने शरीर पर प्रेम या अपने जीवन पर अभिरुचि नहीं दीखती, बल्कि राज-वंश का क्षय न हो, इसलिये सब दुःख-सहते हुए कुछ दिन जीते रहने को विवश हैं, अन्यथा इसी क्षण शरीर त्याग देतीं। वन में लक्ष्मण के मुँह से अपने सर्वथा परित्याग की बात सुनकर सीता मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। जब सावधान हुईं तो उन्होंने अपने प्रारब्ध की निन्दा करते हुए लक्ष्मण से कहा—

'न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ;
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते । ८ ।
यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज मां दुःखभागिनीम् । ६ ।
वक्तव्यश्चापि नृपतिर्धर्मेषु सुसमाहितः । ११ ।
जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव । १२
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने ;
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः । १३ ।
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः' । १४ । उत्तर०, ४८

राम के हृदय में सीता के प्रति कितना प्रेम है, यह वही सबसे अधिक जानती थीं और सीता के हृदय की बात को राम

से अधिक पहचाननेवाला भी कोई न था। सुन्दरकाण्ड में हनूमान् से बात करते हुए उन्होंने यही कहा था कि राम के हृदय को मैं और मेरे हृदय को राम ही अच्छी तरह समझते हैं। सीता को आज यही चिन्ता थी कि वियोग-व्यथित राम कहीं प्रजा-पालन में असावधानी न कर बैठें।

यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ;

परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा। १५।

अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ। १६।

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः। १७

प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः १८। उत्तर०, ४८ सर्ग

अर्थात् मैं आज ही गङ्गा में प्राण त्याग देती, परन्तु राजवंश के क्षय होने का भय है। तुमको जो आज्ञा है सो करो। मुझ अभागिनी को वन में छोड़ जाओ और अपने भाई के आज्ञाकारी रहो। राजा (राम) से कह देना कि तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं शुद्ध हूँ। केवल अपयश के कारण तुमने मुझे छोड़ा है। जिससे तुम्हारा अपयश हो, उसका परिहार मुझे भी करना ही चाहिए। तुम जिस प्रकार भाइयों से व्यवहार करते हो उसी प्रकार प्रजा से करना। यही तुम्हारा धर्म है और इसी से कीर्ति होगी। मुझे अपने शरीर का कोई सोच नहीं, क्योंकि पति ही स्त्री का देवता, बन्धु और गुरु होता है, अतः उसे अपने प्राण देकर भी पति का प्रिय कार्य करना चाहिए। सीतादेवी के इन वचनों में राज-धर्म, कर्तव्य-पालन, प्रजा-पालन और

पतिव्रता-धर्म का आदर्श-चरित सुचारु रूप से अङ्कित है।

इसके अतिरिक्त महाराज जनक और उनके वंशधर भी उस समय मौजूद थे। क्या उन्हें सीता के परित्याग से कुछ कम दुःख हुआ होगा ? क्या वे लोग सीता के रहने-सहने और खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे, परन्तु सीता इसे स्वीकार कैसे करतीं ? उन्हें तो वनवास के लिये पति की आज्ञा थी। वह उनकी आज्ञा टालकर पिता के यहाँ जातीं तो उनके पति की अवज्ञा होती। सीता आजकल की पाश्चात्य ढंग से 'सुशिक्षित' तुनकमिजाज लड़कियों में से तो थीं नहीं, जो बात-बात में पति से बिगड़कर, उसे 'डैमफ़ूल' बताते हुए अपनी मा की खोपड़ी पर जा धमकती हैं।

अब जरा राम की ओर देखिए। क्या सीता के वियोग का दुःख इन्हें कुछ कम था। राम की वियोग-व्यथा का हाल यदि जानना हो तो सीता-हरण के अनन्तर का प्रकरण देखिए। उस समय की व्यथा के दूर करने के लिये तो क्रोध और चिन्ता राम की सहायक भी थी, पर आज तो वह भी नहीं। रावण के ऊपर उत्पन्न हुए क्रोध और उसके जीतने के उपायों की चिन्ता में राम का बहुत-सा समय कट जाता था, परन्तु आज उन्हें क्या सहारा है ? आज तो अपने हाथ से ही उन्होंने अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी है। वह अपने दुःख को किसी से कह भी नहीं सकते। खुलकर रो भी नहीं सकते। वन में तो लक्ष्मण के सिवा कोई देखनेवाला नहीं था, पर यहाँ तो सैकड़ों आदमी

दिन-रात घेरे रहते हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय सीता की याद आती है और भीतर-ही-भीतर दम घोटती है। सीता क्या खाती होंगी, कहीं एकान्त पृथ्वी पर पड़कर निर्जन वन में रात काटती होंगी। पहले तो धनुर्धारी राम और लक्ष्मण के साथ रहने से उन्हें कोई भय या चिन्ता नहीं थी, परन्तु आज उनकी क्या दशा होगी। पहले तो दोनो महावीर उनकी अभीष्ट वस्तु जुटाने का तुरन्त प्रबन्ध करते थे, पर आज उनका दुःख देखनेवाला भी कोई नहीं। भूख, प्यास और काय-कष्ट के समय बात पूछनेवाला भी कोई नहीं। इन सब बातों की चिन्ता से राम की नींद-भूख तक भागी हुई थी। उनके घोर कष्टों और मर्मान्तिक व्यथाओं का अन्दाज़ा कौन कर सकता है? वह जो कुछ करते थे, अपना कर्तव्य समझकर। राज-धर्म और मर्यादा के सूत्रों के वश में वह कठपुतली की भाँति चलते थे। प्रजा का रञ्जन और पालन ही वह राजा का धर्म समझते थे। राजा के जिस कार्य से प्रजा में असन्तोष बढ़े उसका तुरन्त परित्याग करना वह राजा का धर्म समझते थे। वह प्रजा को एक प्रकार से अपना स्वामी समझते थे। उन्होंने अपने विरोधियों का पता लगाके उन्हें दण्ड देने के लिये गुप्त-चर नहीं रक्खे थे, बल्कि अपनी त्रुटियों और कमज़ोरियों को जानने और उनका सुधार करने के लिये गुप्तचर रक्खे थे। जिन बातों को प्रजा लज्जा, सङ्कोच, भय या और किसी कारण उनके सामने नहीं कह सकती थी, उनका पता लगाने के लिये

उनके गुप्तचर छूटा करते थे। यदि कहीं आज की-सी अमल-दारी होती तो राम के विरुद्ध अपवाद लगानेवालों को फ़ौरन् '१२४ ए०' धारा लगाकर मये बाल-बच्चों के जेलखाने में ठूँस दिया गया होता। और आज की-सी प्रजाभक्त पुलिस यदि उन दिनों होती तो बीसों—डाका, ख़ून, चोरी, बदमाशी, ठगई आदि की—धाराओं के मसाले का आविष्कार उन पर कर देती। यदि और कुछ न होता तो कोकीन, बम, रिवाल्वर, गोली और बारूद ही बरामद करा देती। मतलब यह कि इस विदेशी राज्य में देशद्रोहियों को आसमान पर चढ़ाने और राजद्रोहियों को जीते-जी दफ़न कराने में जितनी कुशल आज की पुलिस है, उतनी राम के समय में न थी। इसी से तो वह राम-राज्य था, राक्षस-राज्य नहीं। इसी से तो आज भी लोग राम-राज्य के लिये तरसा करते हैं। यही तो कारण है कि अब भी विपत्ति के समय लोग 'राम-राम' की रट लगाया करते हैं। यही तो बात है कि अब तक मुर्दों के साथ भी 'राम-नाम सत्य है' की पुकार की जाती है। यह उस मुर्दे को सुनाने के लिये नहीं, बल्कि जीनेवालों के सुधार के लिये की जाती है। राम अपने काम से अपना नाम अमर सत्य कर गए हैं। यदि कुछ दिन संसार में अपना नाम चलाना है तो राम के-से आचरण कर जाओ, नहीं तो तुम्हारी भी एक दिन इसी मुर्दे की-सी दशा होना तो अनिवार्य ही है। यही 'राम-नाम सत्य है' की पुकार का तात्पर्य है।

राम नहीं चाहते थे कि प्रजा के हृदय में उनके विरुद्ध किसी

प्रकार का भी—गुप्त या प्रकट—दुर्भाव उत्पन्न हो इसके लिये वह बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करने को तयार थे। इसी का नाम तो 'रामराज्य' था। यही तो कारण था कि स्वयं सीता को पवित्र जानते और कहते हुए भी, महर्षि वाल्मीकि के वचनों पर विश्वास करते हुए भी सीता की पूर्व शुद्धि की बात दोहराते हुए भी, राम प्रजा के सामने फिर से सीता की शुद्धि-परीक्षा करने के लिये अड़े थे। राम के लिये तो प्रजा ही सब कुछ थी।

आजकल भूखों मरनेवाली ग़रीब प्रजा की कठिन कमाई से विलायत में कुत्ते ख़रीदने, महल सजाने का सामान और मोटरें बिसाहने में लाखों रुपया बर्बाद करनेवाले आरामतलब हृदयहीन राजाओं को रामचरित से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए।

हाँ, तो राम अपने को प्रजा का मालिक नहीं, बल्कि प्रजा का सेवक समझते थे। प्रजा के असन्तोष को दूर करने के लिये वह बड़े-से-बड़ा घोर कष्ट सहने को तयार थे। जिन राम ने अपने से सीता को अलग करनेवाले राक्षस-राज रावण का समूल विध्वंस कर दिया था, वही राम आज अपनी प्रजा के अपवाद पर विना कुछ सोचे विचारे, घोर विपत्तियाँ झेलने और अपने तथा सीता के सम्पूर्ण जीवन को विषमय बनाने को तयार हो गए। यहाँ सीता और राम को अलग-अलग करके विचार करना उचित नहीं है, बल्कि दोनों ने मिलकर प्रजा के लिये कितना स्वार्थ-त्याग और कितना आत्म-बलिदान किया, यह देखने की आवश्यकता है। सीता, राम से और राम, सीता

से कभी अलग नहीं किए जा सकते। इन दोनो का वही सम्बन्ध है जो सूर्य और प्रभा का। सीता का परित्याग करने के बाद भी यदि इन दोनों के हृदय को देखने का सामर्थ्य किसी में होता तो वह सीता के हृदय में राम का और राम के हृदय में सीता का अखण्ड साम्राज्य देखता।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो सीता के भूतलप्रवेश से राम को एक प्रकार का कठोर दण्ड भी हो गया। सीता के सिवा और कोई उन्हें इतना कठिन दण्ड दे ही नहीं सकता था। अब जन्म-भर उन्हें सीता के घोर दुःखों की याद आया करेगी और आया करेगी अपने उन क्रूर व्यवहारों की याद, जो उन्होंने अन्त समय तक सीता के साथ किए थे। साथ ही उस विपत्ति में भी सीता की अनुपम पति-भक्ति और अचल श्रद्धा भी अब रह-रहकर उनके हृदय को मसोसा करेगी।

कुछ लोग सीता-परित्याग का अनौचित्य समझकर उत्तर-काण्ड को ही प्रक्षिप्त बताते हैं, परन्तु हम कह चुके हैं कि 'उत्तर' समस्त रामायण का परिशिष्ट और उपसंहार है। उसके बिना रामायण देखने-सुननेवालों की आकाङ्क्षा पूर्ण ही नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त रामायण करुण-रसप्रधान काव्य है। युद्धकाण्ड में राम के राज्याभिषेक तक की ही कथा है। यदि उस आनन्द-मङ्गल पर ही इसकी समाप्ति मान लें तो करुण-रस का कहीं पता ही न रहेगा। वास्तविक करुण-विप्रलम्भ तो सीता के परित्याग और उनके भूतल प्रवेश से ही

आरम्भ होता है। लक्ष्मण के त्याग के बाद तो घोर करुण-पूर्ण कथा हो गई है। यह सब उत्तरकाण्ड ही में तो है। सीता परित्याग के विना तो शायद रामायण का जन्म हो न हुआ होता।

कुछ लोग इस कारण भी 'उत्तर' से मुँह मोड़ते हैं कि इसके मानने से राम को विष्णु का अवतार मानना पड़ता है और इसे प्रक्षिप्त कह देने से सब झगड़ा आसानी से दूर हो जाता है। यह तो हम नहीं कहते कि वाल्मीकीय रामायण में कुछ प्रक्षिप्त है ही नहीं। इतनी प्राचीन पुस्तक में उसका न होना ही आश्चर्य होता। तुलसीकृत रामायण तो अभी कल को बनी है, उसमें भी सैकड़ों 'क्षेपक' मौजूद हैं। स्वामी दयानन्दजी, जो 'प्रक्षिप्त' कहने में सिद्धहस्त (या सिद्धमुख) थे उनका आदिम ग्रन्थ (प्रथम सत्यार्थप्रकाश) तो उनके अनुयायियों द्वारा आदि से अन्त तक सब प्रक्षिप्त-ही-प्रक्षिप्त बताया जाता है। यह अद्भुत प्रक्षिप्त है, जिसमें असलियत का पता ही नहीं। फिर इतनी प्राचीन रामायण की तो बात ही क्या ? हाँ, यदि आप परिश्रम करें तो इसमें प्रक्षिप्त अंश का पता लगा सकते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने इसके लिये श्लोकों, सर्गों, काण्डों और उपाख्यानों तक की सूची आपके हाथ में दे दी है। इसके अतिरिक्त दो-दो, चार-चार या दस-बीस पद्य जो कहीं-कहीं बीच-बीच में प्रक्षिप्त हैं उनका पहचानना भी प्रकरण आदि देखकर बुद्धिमान् विवेचक जनों के लिये कठिन नहीं है। बहुत-सी जगहों पर तो प्राचीन टीकाकारों ने ही अनेक श्लोकों

और अनेक सर्गों को भी प्रक्षिप्त बताकर उन पर टीका नहीं की है। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि 'उत्तर' को प्रक्षिप्त कह देने से राम को विष्णु का अवतार न मानना पड़े। यह बात तो वाल्मीकीय रामायण में आदि से अंत तक ओत-प्रोत है।

जिस समय एक ओर महाराज दशरथ पुत्रेष्टि-यज्ञ कर रहे थे, उसी समय दूसरी ओर देवता लोग भगवान् विष्णु से दशरथ के यहाँ अवतार लेकर रावण-वध करने की प्रार्थना कर रहे थे—

'राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो। १६।

अस्य पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्;

तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्। २१।

अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्'। २२। बा० कां०, १५ सर्ग

परशुराम ने पराजित होकर राम से स्पष्ट ही कहा है कि मैं तुम्हें विष्णु समझता हूँ।

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्। १७। बा० कां०, ७६

अयोध्याकाण्ड के प्रथम सर्ग मे भी इसकी चर्चा है।

"सहि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः;

अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ७। अ०, १ सर्ग

महर्षि भारद्वाज ने अपने आश्रम में आए भरत से भी यही सङ्केत किया है। चित्रकूट पर भरत के अधिक आग्रह करने पर बीच में बोल पड़नेवाले ऋषियों की बात से भी राक्षस-वधाकाङ्क्षी ऋषियों और देवताओं के गुप्त रहस्य की ओर पूरा-पूरा संकेत होता है। युद्धकाण्ड में कई जगह राम के

अलौकिक प्रभाव की बात प्रकट हुई है। खर, दूषण आदि के वध के अनन्तर महर्षि अगस्त्य ने भी इसी ओर सङ्केत किया है। रावण-वध के बाद विलाप करती हुई मन्दोदरी ने भी कहा है कि तुम्हारे (रावण के) सामने आते हुए तो इन्द्र भी काँपते थे, सो तुम्हें मनुष्य-मात्र ने कैसे मार लिया? अथवा राम के रूप में यह साक्षात् यम आए हैं। अथवा यह इन्द्र हों, परन्तु इन्द्र की तो शक्ति ही क्या है, जो तुम्हें रण में क्रुद्ध देखकर सामने ठहर भी सकें। निःसन्देह यह सनातन परमात्मा विष्णु हैं जो राम के रूप में अवतीर्ण हुए हैं—

'व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः। ११।

मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः'। १३। उत्तर०, ११२

जब सीता की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब देवताओं ने राम से (युद्धकाण्ड में) कहा था कि आप सीता को उपेक्षा कैसे कर रहे हैं? देवताओं में श्रेष्ठ अपने स्वरूप को कैसे भूले जा रहे हैं? राम बोले कि मैं कौन हूँ? मैं तो अपने को दशरथ का पुत्र मनुष्य-मात्र राम समझता हूँ। इस पर ब्रह्माजी ने समझाया कि आप नारायण, पुरुषोत्तम विष्णु हैं।

देवाः—"उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने।

कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे ६।"

रामः—'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्;

सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे'। ११।

ब्रह्मा—'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। १३।

'शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः' १५ । यु०, ११९ सर्ग

इन बातों से यह भी स्पष्ट है कि राम अपने दिव्य स्वरूप को अधिकांश भूले रहते थे। अधिकांश अपने को मनुष्य ही समझते थे। भगवान् कृष्ण के समान उन्हें सदा अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं रहता था।

'उत्तर' के १७वें सर्ग में सीता की पूर्वजन्म-कथा सुनाते हुए महर्षि ने भी राम से कहा था कि तुम विष्णु का अवतार हो—

'विष्णुस्त्वं हि सनातनः' ३५ । उत्तर०, १७

सीता के रसातल प्रवेश के समय जब राम शोक और क्रोध से उन्मत्त हो उठे थे और धनुष-बाण लेकर पृथ्वी का ध्वंस करने को तयार हो गए थे तब भी ब्रह्मा ने उन्हें रोकते हुए कहा था कि सन्ताप न करो, अपनी पूर्व अवस्था (विष्णुरूप) को याद करो—

'राम राम न सन्तापं कर्तुमर्हसि सुव्रत ; १२

इमं मुहूर्तं दुर्धर्षं, स्मर त्वं जन्म वैष्णवम्' ।१३ उत्तर०, ९८

अन्त में भी 'अतिबल महर्षि के दूत' ने राम के पास आकर उन्हें उनके पूर्वजन्म (विष्णुरूप) की याद दिलाकर ब्रह्मा का सन्देश देते हुए यही कहा है कि राक्षसों के वध के लिये आपने अवतार लिया था। वह हो चुका। अब यदि इच्छा हो तो यहीं रहिए, अन्यथा विष्णु-रूप से देवताओं को सनाथ कीजिए—

'अथवा विजिगीषा ते सुरलोकाय राघव ;

सनाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः' । १५ । उत्तर०, १०४

जब राम ने लक्ष्मण का परित्याग करके सरयू पर शरीर-

त्याग करने का आयोजन किया था, तब भी ब्रह्माजी ने यही कहा था कि हे विष्णो, आइए अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त कीजिए—

'आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ;
ततो विष्णुमय देवं पूजयन्ति स्म देवताः' १३ । उत्तर०, ११०

इस प्रकार अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं जिनसे राम विष्णु के अवतार प्रमाणित होते हैं, परन्तु उधर हमारा लक्ष्य नहीं है। हमें तो रामायण पर राजनीतिक दृष्टि से विचार करना था सो कर चुके। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हमने सभी विचारणीय विषयों का विवेचन कर लिया है। हमने तो स्वतन्त्रता-पूर्वक युक्ति-युक्त और प्रमाण-संगत विचार करने की इच्छा रखनेवालों को एक मार्ग दिखाया है। यदि उसमें कुछ तत्त्व हो और विचारवान् सज्जनों को हमारी बातों में कुछ उपादेय तथा उपयोगी अंश प्रतीत हो तो सत्य की खोज में उसके अनुसार अपनी विचार-धारा को प्रवाहित करें, अन्यथा हमारी बातों को तुच्छ तथा हेय समझकर उनकी उपेक्षा कर दें। 'हेम्नः संलक्ष्यतेह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपिवा'

तद्राजनीतिव्याजेन रामचर्चेयमर्चिता ;
सन्तोषाय सतां भूयाद् विवेकाय च धीमताम् । १ ।

आद्यः कवेः कृतिषु कौशलपेशलासु-
पारायणेन मनसि स्फुरितान् विचारान् ;

काँश्चिन्न्यभान्त्समिह कौतुकिनो वितर्कैं
लोकान् सतः समभिराधयितुं सतर्कम् । २ ।
रामायणाऽर्णव-सुधामधिजग्मिवांसः
सन्तो विचारचयचर्चितचातुरीकाः ;
यद्यत्र बिन्दुमपि लोकहिताय विन्द्यु-
र्मन्ये श्रमः स फलितः खलु मादृशस्य । ३ ।
वसुनागाङ्कचन्द्रेऽब्दे वैक्रम-क्रमयोगिनि ।
अपूपुरमिमां चर्चां श्रीरामनवमीतिथौ । ४ ।
साहित्यदर्पणे व्याख्यां विमलाख्यामचिख्यपत ।
'आयुर्वेदमहत्त्वं' च पाश्चात्यमतमर्दनम् । ५ ।
त्रिवेदीविदुषां वंश्यो यः सनाढ्यद्विजन्मनाम् ।
सोऽपप्रथद्रामनीतिं शालग्रामः सकौतुकम् । ६ ।

साहित्यदर्पण

विद्यावाचस्पति, श्रीशालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्याभूषण, वैद्यभूषण, कविराज विरचित

'विमला'-नामक हिंदी-टीका-सहित

यदि आप साहित्य का वास्तविक आनन्द लेना चाहते हैं, कविताओं का यथार्थ मर्म समझना चाहते हैं, अलङ्कारों, रसों और ध्वनियों की गुत्थियाँ सुलझाना चाहते हैं, कविताओं के गुण-दोषों को परखना चाहते हैं और चाहते हैं पुराने टीकाकारों की भूलों का मार्मिक विवेचन देखना, तो एक बार 'विमला' अवश्य पढ़िए।

कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ

स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री पं० शिवकुमार शास्त्री, काशी—

"इसमें सन्निवेशित विचार अत्यन्त रमणीय, युक्ति-युक्त और प्रमाणों से पूर्ण हैं। यह विद्यार्थी और अध्यापक दोनों के काम की वस्तु है। ऐसी टीका यदि संस्कृत में होती तो उत्तम था।"

महोपाध्याय श्री पं० काशीनाथजी शास्त्री, काशी—"इसमें श्रीरामचरण तर्कवागीश-कृत फक्किकाओं की व्याख्या का युक्ति और प्रमाणों द्वारा अच्छा खण्डन किया है।"

व्याकरणाचार्य, न्यायशास्त्री, (महामहोपाध्याय) श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी विद्यानिधि—"इसमें साहित्य के सब ही अंगों का बड़ी मार्मिकता और विद्वत्ता से विवेचन किया गया है।"

मूल्य ४)]

मैनेजर
श्रीमृत्युञ्जय-औषधालय
लखनऊ

आयुर्वेद-महत्त्व

यह पुस्तक आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक अद्भुत, गम्भीर तथा प्रामाणिक गवेषणाओं से पूर्ण है। जिन रहस्यों का पता आयुर्वेद के समस्त ग्रन्थ पढ़ जाने पर भी नहीं लगता, उनका इसमें युक्ति और प्रमाणों के बल पर इतनी सुंदरता से प्रतिपादन किया गया है कि पढ़नेवाले दंग रह जाते हैं! वर्णन-शैली इतनी रमणीय है कि कठिन-से-कठिन विषय बड़ी जल्दी समझ में आ जाता है। भाषा ऐसी सरल और हृदय-ग्राहक है कि स्थान-स्थान पर उपन्यास का-सा आनन्द आने लगता है। गम्भीर और कठिन विषयों के बाद ही मनोरंजन की भी काफ़ी सामग्री मिलती है, जिससे पढ़नेवाले का जी नहीं ऊबता।

वात, पित्त, कफ की दार्शनिक मीमांसा, वेदों से आयुर्वेद का सम्बन्ध, वेदों में वात, पित्त, कफ का वर्णन, वेदों में राजयक्ष्मा (phthysis) का वर्णन, रोग के कीटाणुओं (germs) का वर्णन, यक्ष्मा का विष, यक्ष्मा-रोग और उसके रोगी का वर्णन, यक्ष्मा की औषधियों का वर्णन, तीन प्रकार के रोग, तीन प्रकार की औषधियाँ, उनका तीन देवताओं से सम्बन्ध, पश्चिमी साइंस से वैदिक सिद्धांतों का भेद, पूर्व और पश्चिम की परीक्षा में भेद, कुनैन, थर्मामेटर, चरक में कुनैन इत्यादि अनेक विषयों पर इस पुस्तक में बड़ी विद्वत्ता और योग्यता के साथ प्रकाश डाला गया है। ऐलोपैथी, होम्योपैथी आदि चिकित्साओं के साथ आयुर्वेदिक सिद्धांतों की तुलना करके उनका महत्त्व सिद्ध किया गया है। छपाई, सफ़ाई, काग़ज़ आदि उत्तम। २०×३० सोलह पेजी आकार के लगभग चार सौ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का लागत-मात्र मूल्य केवल १) 'आयुर्वेद-महत्त्व' का परिशिष्ट ≈) दोनों के रचयिता हैं श्रीशालग्रामशास्त्री साहित्याचार्य।

मैनेजर, श्रीमृत्युञ्जय औषधालय, लखनऊ